भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दीके उपलक्ष्यमें

स्वामिनारायण वचनामृत परिचय पुस्तकमाला – पुष्प : ८

स्वामिनारायण
वेदांत परिचय

: लेखक :

प्रो. रमेश म. दवे

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था प्रकाशन

भगवान स्वामिनारायण

भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दी के उपलक्ष्य में

स्वामिनारायण वचनामृत परिचयमाला पुष्प : ६

स्वामिनारायण

वेदांत परिचय

: लेखक :

प्रो. रमेश महीपतराम दवे

एम. आइ. ई. एस. कॉलेज, बम्बई-४०००११.

: प्रकाशक :

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था

शाहीबाग रोड, अहमदाबाद-३८०००४

प्रकाशक :

प्रकट ब्रह्मस्वरूप

स्वामीश्री नारायणस्वरूपदासजी - प्रमुख स्वामी

अध्यक्ष,

भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दी

प्रकाशन समिति

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था

शाहीबाग रोड, अहमदाबाद-३८०००४

*

*

प्रथम आवृत्ति : ३०००

जनवरी, १९८१

*

मूल्य : १-५०

*

प्राप्तिस्थान :

श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण मंदिर,

* शाहीबाग रोड, अहमदाबाद ३८० ००४
* स्वामी ज्ञानजीवनदास मार्ग
स्वामिनारायण चौक,दादर(C.R.) बम्बई ४०० ०१४
* नाणावट, सुरत (गुजरात)
* अटलादरा, वडोदा (गुजरात)
* भाईकाका मार्ग, विद्यानगर (गुजरात)
* रजपूतपरा, शेरी नं. ४, राजकोट (गुजरात)
* लाती बजार, भावनगर (गुजरात)
* ६१, चक्रबेरिया रोड (नोर्थ), कलकत्ता २०

तथा गोंडल, भादरा, गढडा, सारंगपुर, बोचासण, सांकरी आदि संस्थाके मंदिरोंमें.

मुद्रक : साधना प्रिन्टरी, घीकांटा रोड

नोवल्टी सिनेमाके सामने, अहमदाबाद-३८०००१

कृपामृत

भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दीके अवसर पर उनके दिव्य जीवन और कार्य को विशाल जनसमुदाय तक पहुँचाने के लिये संस्थाकी प्रकाशन समितिने प्रकाशनोंकी एक विस्तृत योजना का गठन किया। जिसके अन्तर्गत उनके जीवन और कथन-वचनामृतों को भारत की प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित करने का विचार किया गया। साथ ही साथ उनके भक्तों के प्रेरणादायक जीवन को भी भला किस प्रकार भुलाया जा सकता है? उनके सन्त-कवियोंने मध्ययुगीन गुजराती साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। उनकी कृतियों का गुजराती साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ कवियों और लेखकों द्वारा किये गये श्रेणीबद्ध मूल्यांकन का भी प्रकाशन करने का निश्चय प्रकाशन समितिने किया। इन प्रकाशनों से आज के साहित्यप्रेमी अध्ययनशील और जिज्ञासु जन-समुदाय को भी उनका लाभ प्राप्त हो सकेगा।

इन प्रकाशनों में जिन लेखकों ने सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए भगवान स्वामिनारायण, अनादि अक्षरमूर्ति श्री गुणातीतानन्द स्वामी, स्वामीश्री यज्ञपुरुषदासजी (शास्त्रीजी महाराज), स्वामीश्री ज्ञानजीवनदासजी (योगीजी महाराज) उन्हें कृपान्वित करें, यही शुभ कामना।

इस पुस्तकके लेखक श्री प्रो. रमेश महीपतराम दवे के प्रति भी प्रकाशन समितिकी ओर से हम कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

अक्षर मन्दिर,
गोंडल (सौराष्ट्र)

शास्त्री नारायणस्वरूपदास
(प्रमुख स्वामी)
के जय श्री स्वामिनारायण
(अध्यक्ष: भगवान स्वामिनारायण
द्विशताब्दी महोत्सव समिति)

वचनामृत

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान स्वामिनारायण की परावाणी का यह संग्रह समाज–उद्धार के लिए किये गये अपने सतत विचरण में भिन्न–भिन्न गांवो में उन्होंने जो उपदेश प्रदान किये, उन्हें विद्वान–सन्त गोपालानंद स्वामी, मुक्तानंद स्वामी, नित्यानंद स्वामी, शुकानन्द स्वामी ने संपादित कर, 'वचनामृत' के रूप में प्रसिद्ध किया। स्थल, काल आदि के निश्चित वर्णनों के कारण इसका अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। फारबस गुजराती सभा ने वचनामृत को शुद्ध गुजराती गद्य साहित्य के आरंभ–युग का उत्कृष्ट नमूना माना है।

उपनिषद शैली के समान इसमें भी प्रमुखतः प्रश्नोत्तरके रूप में बोध प्रदान किया गया है, फिर भी उसकी आलेखनशैली अनूठी तथा मौलिक है। मुमुक्षु साधकों को आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सर्वांगीण तथा सरलतम मार्गदर्शन के साथ तदनुरूप जीवन जीने की अनुभवसिद्ध प्रेरणा प्रदान करता ग्रंथ है यही। वेद, उपनिषद, गीता आदि विद्वद्-भोग्य शास्त्रों का सार भगवानने इसमें सरल वचनों से अमृतरूप में परोसा है, जो पीये वह अमर हो जाये।

इसमें सांख्य, योग, वेदांत और पंचरात्र शास्त्रों के यथार्थ स्पष्टीकरण द्वारा भगवत् स्वरूप का वर्णन है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, माहात्म्ययुक्त भक्ति सहित की अध्यात्म साधना को आचरण में उतार सके ऐसी अनुभवसिद्ध व्यावहारिक सूचनाओं से युक्त सिद्धान्तबोध वचनामृत में सीधी, सरल, मिताक्षरी, जनपदीय और वार्तालाप की जीवंत प्रवचन शैली में दिया गया है।

जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म, परब्रह्म–तत्त्वज्ञान के विविध विषयोंकी इसमें विशद चर्चा की गई है। 'ब्रह्मरूप हो कर परब्रह्म की भक्ति करनं' को मुक्ति माना है। इसके लिये प्रगट ब्रह्म–परम भागवत सन्तवर्यों के समागम को अनिवार्य निरूपित किया है।

भगवान ने इसमें स्वयं कहा है, 'यह जो वार्ता है, उसे हमने प्रत्यक्ष देखकर कही है, अपने अनुभव से भी सिद्ध की है। हम जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही कहते हैं।"

आमुख

प्रा. श्री रमेशभाई दवे लिखित 'स्वामिनारायण वेदांतपरिचय' का यह लघु ग्रंथ स्वामिनारायण भगवान द्वारा उद्बोधित वेदान्त के गहन विषय को संपूर्ण रीति से आवृत्त कर लेता है। यह कार्य दुष्कर अवश्य ही रहा क्योंकि विषय की गहनता और सूक्ष्मता विशिष्ट स्पष्टता की मांग करती है। इसके बावजुद तत्त्वज्ञान के प्राध्यापक के रूप में अपने विशद अध्ययन के कारण वे इस विषय को, संक्षेप में, समुचित न्याय प्रदान कर सके हैं।

भक्तिवेदांत में भगवान स्वामिनारायण ने मौलिक दर्शन प्रदान किया है। जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म इन पांच स्वरूपों की व्याख्या, उनके कार्य, स्थिति इत्यादि के स्पष्ट विवरण से जीव और ईश्वर के बीच का भेद समझ में आता है और ब्रह्म तथा परब्रह्म के बीच का भेद भी स्पष्ट होता है। श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत को उन्होंने इस संदर्भ में ही स्वीकार किया है।

तत्त्वज्ञान में अक्षरब्रह्म का स्थान विशिष्ट है। उसका गीता, उपनिषद, श्रीमद् भागवत, ब्रह्मसूत्रों इत्यादि ग्रंथों में उल्लेख होने के बावजुद भगवान स्वामिनारायण ने अक्षरब्रह्म का परमधाम के रूप में तथा पुरुषोत्तम के अनादि उत्तम सेवक (भक्त) के रूप में उल्लेख कर, मुक्ति-व्यवस्था में अक्षरब्रह्मभाव प्राप्त करने के लिए अक्षरब्रह्म की आवश्यकता बताई है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये लेखक कहते हैं : "मूर्तिमन्त अक्षरब्रह्म की साधर्म्यता को प्राप्त कर केवल भगवान की मूर्ति में ही निमग्न रहनेवाला भक्त ही निर्विकल्प समाधि-युक्त है। और वही मुक्ति को प्राप्त करता है। और वही परब्रह्म की नित्य भक्ति का अधिकारी बनता है।"

परब्रह्म का स्वरूप भी सदा साकार ही है। उसमें सगुण, निर्गुण भेद नहीं बरन सगुण-निर्गुण ऐश्वर्य है। अक्षरधाम में तथा पृथ्वी पर सदा एक रूप में ही वह (पुरुषोत्तम) विराजमान रहता है। सर्व अवतार, उसकी अन्तर्यामी शक्ति के वैराजपुरुष में अनुप्रवेश से ही संभवित होते हैं। इस प्रकार, अवतार और अवतारी का भेद भी स्पष्ट होता है।

इसके अनन्तर उत्पत्तिसर्ग, ज्ञान, उपासना और साधना, भक्ति, शरणागति और मुक्ति, धर्माचार, धर्मदर्शन इत्यादि विषयों की, लेखक ने भगवान स्वामिनारायण के 'वचनामृत' ग्रंथ के आधार पर अत्यंत स्पष्ट रूप से चर्चा की है।

'सांप्रदायिक मान्यता-परंपरा' इस विषय के अन्तर्गत उन्होंने कुशलतापूर्वक 'स्वामिनारायण संप्रदाय', 'अक्षरपुरुषोत्तम संप्रदाय' उसी प्रकार से 'ब्रह्मपरब्रह्मवाद' इत्यादि को, एक दूसरे के पर्याय समझाकर संप्रति 'स्वामिनारायण' और 'अक्षरपुरुषोत्तम' के बीच जो गलतफहमियां फैली हुई हैं उनका सुंदर निराकरण किया है।

संप्रदाय का विकास, यदि गुरुपरंपरा की व्यवस्थित रक्षा हो सके, तभी हो सकता है। इसलिए अक्षरब्रह्म की साधर्म्यता को प्राप्त किये हुए श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं के सतत प्राकट्य से ही, हमारे उपनिषदों द्वारा उद्बोधित मुक्ति-व्यवस्था की सुरक्षा हो सकती है। भागवतधर्म को भी ऐसे परम भागवत संतों के संबन्ध से ही पोषण मिलता है। इस सिद्धांत को आपने सुंदर शैली में आलेखित किया है : "परब्रह्म स्वामिनारायण भगवान के इस पृथ्वी से अन्तर्धान होने के पश्चात् उन्होंने अपनी ज्योति का प्रकटन, अपने शिष्य अक्षरब्रह्म के अवतार गुणातीतानंदजी में निवसन कर, जारी रखा। उनके पश्चात उत्तरोत्तर परम एकांतिक ब्रह्मस्वरूप संतों (सद्‌गुरुओं) द्वारा, उनमें अखंड निवास कर मुमुक्षुओं को मोक्ष प्रदान करने का अपना कल्याणकारी कार्य भगवानने जारी रखा है।"

बहुत ही सीमित पृष्ठों में, ऐसे गहन विषय की सुस्पष्टतापूर्वक चर्चा कर, मुमुक्षुओं के समक्ष भगवान स्वामिनारायण के भक्ति-वेदांत के सिद्धान्तोंको प्रस्तुत करने के लिये प्रा. रमेश दवे अभिनंदनीय हैं।

अक्षरभवन
दादर-बम्बई
ता. १३-४-८०

लि.
हर्षदभाई दवे
का जय श्री स्वामिनारायण

प्रस्तावना

(लेखक का निवेदन)

भारतीय जनसमाज में सामान्यतः ऐसी मान्यता प्रचलित है कि चैतन्य और वल्लभाचार्य के पश्चात वेदान्त–परंपरा का अंत हो गया ! उसके बाद प्रस्थानत्रयी पर आधारित कोई भी मौलिक वेदान्तदर्शन और उस पर आधारित संप्रदाय का प्रवर्तन नहीं हुआ । इसके अतिरिक्त, हमारे संप्रदायकी ओर से श्रीजी संमत वेदांत दर्शन को प्रस्तुत करने के प्रयत्न स्वल्प ही हुये हैं, इसलिए आम समाज में भगवान स्वामिनारायण केवल समाजसुधारक तथा वैष्णवीय भक्तिमार्ग के प्रवर्तक हैं, ऐसी ही छाप पड़ती है । इन दोनो प्रकार की गल्त मान्यताओं का निराकरण हो और स्वामिनारायणीय वेदांत दर्शन तथा संप्रदाय संबन्धी गलतफहमियां दूर हों इस हेतु से इस लघुप्रबंध की रचना की गई है । हां, यह सत्य है कि—पिछले पचास वर्षों में इस दिशा में कतिपय योगदान हुए हैं और कतिपय अच्छे प्रबंध लिखे गये हैं परंतु इस दिशा में प्रगति के लिये अभी बहुत ही अधिक संभावनाएँ हैं ।

भगवान स्वामिनारायण ने पूर्णतः नूतन, स्वतंत्र, मौलिक प्रमाणभूत वेदांत दर्शन प्रदान किया है । श्रेयार्थी किशोरलाल मशरूवाला यथार्थ कहते है : " अहिंसामय यज्ञ के प्रवर्तक, क्षमाधर्म के उपदेशक, शौच और सदाचार के संस्थापक, शुद्ध भक्तिमार्ग और शुद्ध ज्ञानमार्ग के संचालक, भागवत धर्म के शिक्षक तथा व्यास सिद्धान्त के बोधक थे सहजानन्द स्वामी ! " इस सत्य की प्रतीति उनके जीवन और कथन की परीक्षा और उनके ' वचनामृतों ' का दार्शनिक दृष्टिकोण से सूक्ष्म और तलस्पर्शी अध्ययन करने से होती हैं ।

तर्कशास्त्र, मानसशास्त्र और दर्शनशास्त्र (तत्त्वज्ञान) का एक विद्यार्थी और शिक्षक होने के नाते धर्म, तत्त्वज्ञान और वेदांत में मेरी अभिरुचि तो थी ही, परन्तु हमारे संप्रदाय के तत्त्वज्ञान के प्रति तो

ब्र. स्व. योगीजी महाराज और मेरे चाचाजी पू. श्री हर्षदभाई दवे के समागम और शिक्षण से ही आकर्षित हुआ हूँ। गहरा रस ले सका हूँ। उन्होंने ही मुझे स्वामिनारायण वेदांत की ओर मोड़ा है, अध्ययन के लिए प्रेरित किया है। उसमें भी प. पू. प्र. ब्र स्व प्रमुख स्वामी महाराज ने बारबार पुष्टिकर के बोध देकर प्रेरणा प्रदान की है और मन में उठती शंकाओं का समाधान किया है। प्र. ब्र स्व. प्रमुख स्वामी महाराज ने तो जब भी तत्वज्ञान संबन्धी कूट प्रश्नों के हल के लिए उनके पास जाना हुआ है, तब-तब धीरजपूर्वक चाहे जैसे जटिल और उलझनपूर्ण प्रश्नों को सुनकर त्वरित उत्तर सरल और असंदिग्ध रूप में प्रदान कर मेरा कार्य सरल बनाया है। उनके उत्तर सूक्ष्म तलस्पर्शी और गूढार्थपूर्ण रहे हैं। उनके मार्गदर्शन से मैंने अत्यंत प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त की है।

इस प्रबंध की रचना प. पू प्र. ब्र. स्व. प्रमुख स्वामी की आज्ञा से मुझे करनी थी। परंतु 'वचनामृत' तो रहा अति विशाल और समृद्ध ग्रंथ! और फिर उसमें निहित वेदांत सम्बन्धी दार्शनिक विचारों का मंथन कर उन्हें एक लघुप्रबंध के रूप में प्रस्तुत करना– यह तो गागर में सागर भरने सा दुष्कर कार्य है। इसलिए शोधन-लेखन का कार्य मंद गति से ही हो सका। परंतु प. पू. ईश्वरचरण स्वामी के आग्रहपूर्ण तकाजों और प्र. ब्र. स्व. प्रमुख स्वामीजी के आशीर्वाद प्रेरणा से अन्ततः यह कार्य पूरा हो सका है। इस लेख को मैंने अनेक शैक्षणिक और दार्शनिक संस्थाओं के समक्ष मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये लेखों और प्रवचनों की टिप्पणियों के आधार पर तैयार किया है। केवल वचनामृत और शिक्षापत्री के प्रति प्रामाणिक रहकर ही समग्र सिद्धांत को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास मैंने किया है। इसमें जो कुछ सुंदर और प्रेरणादायक दृष्टिगोचर हो उसका यश भगवान स्वामिनारायण को है और जहां कहीं भी कोई त्रुटि या अपूर्णता

दिखे तो वह मेरी है यों मानकर कृपया ध्यान आकर्षित करें, सूचित करें ताकि भविष्य की आवृत्ति में संशोधन किया जा सके।

मैं मानता हूँ कि अधिक विस्तारपूर्वक और श्रुति-स्मृति-धर्मशास्त्रों के प्रमाणों को प्रदान कर 'स्वामिनारायणीय वेदांत' का प्रतिपादन किया जा सकता' हैं; उसके लिये अनगिनत संभावनाएँ हैं। उस प्रकार के विस्तृत प्रतिपादन की अत्यंत आवश्यकता है इसलिए उस दिशा में भी मैंने कार्यारंभ कर दिया है। आशा है कि आगामी वर्ष में "वेदांत फिलॉसफी ऑफ स्वामिनारायण' नामक शोधपूर्ण विस्तृत ग्रंथ भी प्र. ब्र. स्व. प्रमुखस्वामी महाराज के आशीर्वाद और प्रेरणा से आप सब के समक्ष प्रस्तुत कर सकूँगा।

अंत में इस प्रबंध को लिखने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया इसके लिये मैं बोचासणवासी श्री अक्षर पुरुषोत्तम संस्था तथा प. पू ब्र. स्व. प्रमुख स्वामी महाराज के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। पुस्तक का पांडुलिपि देखकर आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करने तथा इस पुस्तक का आमुख लिखने की कृपा के लिए प. भ. श्री हर्षदभाई त्रि. दवे का मैं अत्यंत आभारी हूँ। पुस्तक की पांडुलिपि को सुंदर अक्षरों में लिखकर तैयार करने के लिए श्री. डी. सी. ठाकोर तथा उसका सुंदर हिन्दी अनुवाद करने के लिए प्रा. राजम नटराजन का मैं आभारी हूँ। अंत में, पुस्तक को सुंदर रूप से मुद्रित कर आप सबके समक्ष प्रस्तुत करने के पीछे जिनका हाथ है ऐसे प. पू ईश्वरचरण स्वामी तथा स्वामिनारायण मुद्रण मंदिर के कार्यकर्ताओं के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

—रमेश महीपतराम दवे

२२९, भालचंद्र रोड,
९, नूतन विला
माटुंगा (सी. आर.)
बंबई-४०००१९

ता. २५-६-१९८०
स्वामिनारायण जयंती

नोंध

इस पुस्तिका में कौंसमें दिये हुए वचनामृतों के संदर्भों के लिये मार्गदर्शन :

ग. प्र. =	गढडा प्रथम	प्रकरण
सा. =	सारंगपुर	,,
का. =	कारियाणी	,,
लो. =	लोया	,,
पं. =	पंचाळा	,,
ग. म. =	गढडा मध्य	,,
वर. =	वरताल	,,
अम. =	अमदावाद	,,
ग. अं. =	गढडा अंत्य	,,
जे. =	जेतलपुर	,,

भगवान स्वामिनारायण–स्वामी सहजानंद
(ई. स. १६८१—१८३०)

जिनका श्री कन्हैयालाल मुंशी 'अर्वाचीन भारत के निर्माता' के रूप में परिचय कराते हैं तथा जिनकी प्रिन्स हॉपकिन्स 'क्रान्तिकारी सुधारक' के रूप में स्तुति करते हैं और जिनकी जस्टिस एम. जी. रानडे, धर्म दर्शन–परंपरा के 'अन्तिम हिन्दू आचार्य' के रूप में प्रशंसा करते हैं—ऐसे श्री सहजानन्द स्वामी उर्फ स्वामिनारायण का जन्म २ अप्रैल ई. स. १६८१ (वि. स. १८३६, चैत्र सुदी रामनवमी) को हुआ था। वैष्णव धर्म-परायण ब्राह्मण–कुल के पिता धर्मदेव और माता भक्तिदेवी के हाथों, पवित्र वातावरण में उनका लालन–पालन हुआ। बाल्य-काल से ही अलौकिक दिव्य शक्तियाँ, कुशाग्र बुद्धि, प्रेम और निर्वैर की भावना, करुणा और सेवावृत्ति और लोककल्याण की उच्च भावना उनमें दृष्टिगोचर होती थी। आठ वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत हुआ। सकल शास्त्रों का अध्ययन अपनी प्रगल्भ बुद्धि–चातुर्य और स्मरणशक्ति से पूर्ण कर, नैपुण्य अर्जित किया। माता-पिता के अक्षरवास के अनन्तर केवल बारह वर्ष की कोमल आयु में गृहत्याग कर, संसार के बन्धनों से मुक्त हो, हिमालय की राह ली। वहां पुल्हाश्रम में गंडकी के तीर पर छः महीने एक पैर पर खड़े रहकर उग्र तपश्चर्या की। वृद्ध मुनि गोपाल योगी के सान्निध्य में अष्टांगयोग सिद्ध किया। सात वर्ष तक में उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिमी भारत का पैदल प्रवास पूर्ण कर, सौराष्ट्र के लोज-गाँव में पदार्पण किया। मार्ग में स्थित प्रत्येक मंदिर, तीर्थ, धर्म , संप्रदाय, धार्मिक उत्सव,

परंपरा, रीति-रिवाज, गुरु, धर्माचार्य आदि के उपदेश, जीवन कथन, व्यवस्था, आदि का अध्ययन अपनी विचक्षण बुद्धि और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का उपयोग कर, विविध दृष्टिकोणों से किया। मार्ग में कई मुमुक्षुओं को मार्गदर्शन दिया। स्थान-स्थान पर जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म, परब्रह्म, बंधन और मोक्ष जैसे आध्यात्मिक विषयों पर विद्वानों, गुरुओं और धर्माचार्यों से चर्चाएँ कीं। धर्म और अध्यात्मसाधना के नाम पर प्रचलित पाखंडों और दुराचारों को देखकर दुःख अनुभव किया।

काठियावाड़ के लोज-गाँव में स्थित सद्गुरु रामानंद स्वामी के आश्रम में वे पधारे। यहां पर रामानंद स्वामी को अपना गुरु बनाया। उनसे वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर 'सहजानंद स्वामी' नाम पाया और यहीं स्थायी हो गये। गुरु रामनंद ने इक्कीस वर्ष के युवक सहजानंद के अमूल्य सत्त्व को पहचान लिया। इसीलिए अपने किसी भी वृद्ध, विद्वान या वाचाल शिष्य के स्थान पर अद्भुत कर्तृत्वशक्ति तथा अध्यात्मिक क्षमता के धारक २१ वर्ष के युवक सहजानंद जी को विधिपूर्वक धर्म की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर नये संप्रदायकी धर्मधुरी उनके हाथों में सौंप दी। भागवत धर्म की – शुद्ध वैष्णव संप्रदाय की – पुनः प्रतिष्ठा होगी इस विश्वास से रामानंद ने शांति का अनुभव किया। तदनन्तर अति अल्पावधि में ही गुरु रामानंदजीने इहलोक से विदा ली। सहजानंदजी ने धर्मचक्रप्रवर्तन का कार्य प्रारंभ किया। उनको अभिप्रेत धर्म था – धर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्यज्ञानयुक्त नवधा भक्ति – इन चारों अंगों पर आधारित और उसे परिपुष्ट करता "एकांतिक धर्म"। अपनी बुद्धि, शक्ति, ऐश्वर्य, करुणा, कल्याण–भावना और धार्मिक जीवन में अनुशासन तथा आग्रह-युक्त नेतृत्व को कार्यरत करते हुए उन्होंने सुग्रथित, सुव्यवस्थित संप्रदाय को सर्जन–प्रवर्तन का काम प्रारंभ किया। दैवी शक्तियाँ

और ऐश्वर्य उनके लिये सहज थे। चमत्कार और समाधि द्वारा असंख्य मुमुक्षुओं को, अपने इष्टदेव के दर्शन कराकर, ईश्वरोन्मुख किया। अति अल्पकाल में ही एक विशाल जनसमुदाय उनका अनुगामी हो गया। नीति, धर्म के प्रसार के लिये बुद्धि, कार्य-शक्ति और उत्साह से परिपूर्ण, सुखी परिवारों के मुमुक्षु युवकों को ढूंढ कर, एक ही रात्रि को ५०० को परमहंस कक्षा की साधु-दीक्षा प्रदान की। बाईस वर्ष के युवा गुरु के हाथों आयु में और पांडित्य में उनसे बड़े ५०० व्यक्ति साधु बने उनके अनुशासन और नियम के अन्तर्गत रहकर प्रेम पूर्वक उन्हें धर्माचार्य के रूप में स्वीकार करें—यह घटना उनकी आकर्षक प्रतिभा और दिव्य व्यक्तित्व का सूचक है। धर्म के इतिहास में यह अद्वितीय और विरल घटना है। अपनी परमहंस मंडली की सहायता से स्थान-स्थान पर बावड़ी-कुआँ-तालाब खुदवाना, मार्ग बनवाना तथा नदी के तट बंधवाना, अन्नक्षेत्र और सदाव्रत खुलवाना, गोशाला, पाठशाला और धर्म शालाएँ बंधवाना—जैसे पूतकर्मों से उन्होंने ज्ञात-जाति-धर्म अथवा वर्ग का भेद नहीं किया। वहम,व्यसन और जड़ता से समाज को मुक्त किया। अज्ञान और अंधश्रद्धा से समाज को मुक्त किया। गाली-गलौज और अश्लील भाषा-प्रयोग जिनके जीवन से जुड़ गये थे ऐसे वर्ग से शिष्टभाषा का उपयोग करवाया। होली तथा विवाहादि प्रसंगों पर गाये जाते अश्लील गीतों-बोलोंके स्थान पर लोगों से तुलसीविवाह, रुक्मिणी विवाह, प्रभुमहिमा के पद गवाये। बेटी को दूधपीती करना (दम घोंट कर मार डालना) पति की मृत्यु के पश्चात सती होना, अपनी स्त्री का दान करना, स्त्री को ताड़न करना और विधवा स्त्री को कष्ट देना—इस प्रकार समाज में बद्धमूल कुप्रथाओं को, समाज को प्रेम से अपने वश में कर, उन्होंने निर्मूल किया। संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा गुजराती

में ही उपदेश देकर, मातृभाषा की महिमा में अभिवृद्धि की और उसके माध्यम से शिक्षाकी महत्ता का प्रतिपादन किया। अक्षरज्ञान प्रदान कर, स्त्रियों को स्वयं ही धर्मग्रंथों का अध्ययन करने की प्रेरणा दी, उनमें निहित कर्तृत्वशक्ति और सेवाभाव के पोषण के लिए स्त्रियों के लिये अलग मंदिर बंधवाये। उसके माध्यम से स्त्री-उपदेशक तैयार किये। उन्हें संगठित कर मूल्यमूलक समाज के नवनिर्माण के कार्य में जगाया। इस प्रकार स्त्रियों के स्थान और रुतबे में बढ़ोत्तरी की। यज्ञ तथा धर्मस्थानों में होती पशु तथा नरहत्या का विरोध किया। उनके स्थान पर वेदविहित विधि के अनुसार अहिंसामय विष्णुयाग, महारुद्रयाग आदि यज्ञ कर एक नूतन परंपरा का प्रचलन किया। इससे दंभी साधु, दुराचारी गुरु, हिंसाप्रेमी राजा, वहम और अंधश्रद्धा के जाल में फांसकर मौज करते बाबाओं और तेजोद्वेषियों का गाली अपमान-तिरस्कार-पीडन और ताडन सहजानंदजी के परमहंसों को जितना सहन करना पड़ा था उतना विरले ही अन्य किसी को सहन करना पड़ा होगा। समाज की निचली और उपेक्षित जाति का आत्मीयजन बनकर, उनकी समस्याओं को जानकर, उनका उद्धार किया। उनके वाणी-व्यवहार को, सवर्णों को लज्जित कर दे, इतना विशुद्ध बनाया। ठगों, चोरों, बटमारों को प्रेम और करुणा से वशीभूत कर, उनका जीवन-परिवर्तन किया, उन्हें उच्च श्रेणी का भक्त बनाकर समाज में सम्माननीय स्थान प्रदान करवाया।

मानवसेवा और समाजोद्धार के साथ-साथ धर्मसुधार, साहित्य-सर्जन और ललित कलाओं का पोषण-प्रवर्तन भी किया। उनके परमहंसों में निहित शक्ति-क्षमता को पहचान कर, उनके हाथों गुजराती, हिन्दी और संस्कृत साहित्य को समृद्धतर किया।

संगीत, चित्रकला–कला, शिल्प, स्थापत्य इत्यादि ललित कलाओं को प्रोत्साहन प्रदान कर उनका भी प्रसार–प्रचार किया। जीव, ईश्वर माया (प्रकृति) ब्रह्म और परब्रह्म के पांच अनादि भेदों युक्त स्वतंत्र मौलिक वेदांत–दर्शन प्रदान किया। मंदिरों, साधुओं, विशाल भक्त-समुदायों, शास्त्रों, सांप्रदायिक व्यवस्था के लिये आचार्यों और सुव्यवस्थित रूप से प्रवाहित होती रहे ऐसी गुरु परंपरा की स्थापना कर–मोनियर विलियम्स के शब्दों में—शुद्ध वैष्णव धर्म का आदर्श स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। ४९वर्ष की अल्पायु में ही ई.स. १८३० के जून १ तारीख (वि.स. १८८५ ज्येष्ठ शुक्ल १०) के दिन भौतिक देह का परित्याग कर स्वधाम सिधाये। उनके कार्यों की प्रशंसा करते हुये फ्रांज़वा मेलिसन लिखते हैं: "भारतीय हिन्दू–परंपरा को जारी रखते हुए भी स्वामिनारायण संप्रदाय आधुनिक युग में नवीनतम हिन्दूधर्म का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है।"

मंगलाचरण

निजतत्त्वपथाववोधनम्
जनतायाः स्वत एव दुर्गमम्।
इति चिन्त्य गृहीत विग्रहम्
सहजानन्दगुरुं भजे सदा॥

—दीनानाथ भट्ट

"अपने स्वरूप के विज्ञानरूप तत्त्वदर्शन की सच्ची परख; जनसमुदाय के स्वयं ही हो सकना दुर्गम होने के कारण, वह तत्त्वज्ञान मनुष्यों को और विशेषकर अपने आश्रित मुमुक्षुजनों को प्रदान करने के लिए जिन्होंने इस पृथ्वी पर मनुष्यदेह धारण किया है, ऐसे मेरे परमगुरु इष्टदेव श्री सहजानंदस्वामी को मैं सदा भजता हूँ।"

"विद्याएँ तो अनेक हैं, परंतु सीखने योग्य तो एक ब्रह्म-विद्या ही है और वही मूल्यवान है। और अंततः वैसे किये विना छुटकारा नहीं है।"

—अक्षरमूर्ति. गुणातीतानंदस्वामी।

"यह जो वात है उसे समझ कर, उसके अनुसार व्यवहार करते हैं वे ही मुक्त होते हैं, उसके विना तो चार वेद, षट्-शास्त्र, अठारह पुराण और भारतादिक इतिहास का अध्ययन कर और उनके अर्थों को जानकर भी मुक्त नहीं हो सकते।"

—भगवान स्वामिनारायण।

ऐसे शुभ हेतु से भगवान स्वामिनारायण के वचनामृतों के आधार पर इस लघुप्रबंध की रचना की गई है।

विषय प्रवेश :

वेदांत सदैव ही मुमुक्षुओं के लिये प्रेरणादायक और मोक्ष-मार्ग में सहायभूत होता सनातन दर्शन है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—ये प्रस्थानत्रयी वेदांत की आधारशिला हैं। प्रस्थानत्रयी पर भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपनी–अपनी विचक्षण बुद्धि, अध्ययन, अनुभव और अध्यात्मसिद्धि के अनुरूप भाष्य लिखकर, मौलिक अर्थगठन कर, अपने–अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। गौडपाद के पूर्व टंक, द्रमिड, बोधायन, गुहदेव, कपर्दि, आशमर्थ्य इत्यादि आचार्यों ने तथा उनके पश्चात शंकराचार्य भास्कराचार्य, यादवप्रकाश, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, केशव, नीलकंठ, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य और बलदेव ने स्वतंत्र विचारों को प्रस्तुत कर, अपने अभिप्रेत सिद्धांत-दर्शन प्रदान किये। इन दार्शनिक सिद्धांतों में कहीं पर आग्रहपूर्वक द्वैत का प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हां, यह अवश्य है कि— रामानुज और निम्बार्क में समन्वयात्मक वृत्ति अधिक देखने में आती है; परंतु इन दर्शनों पर आधारित वैष्णव संप्रदायों में शिव–विरोधी विष्णुभक्तों की अक्खड और असहिष्णु वृत्ति प्रति-फलित हुई। और फिर उनकी दार्शनिक संरचना, अभिगम और निरूपण में कई खामियों के कारण उनकी पूर्ण रूप से पुनर्रचना की आवश्यकता महसूस हो रही थी। इसीसे, सांप्रदायिक असहिष्णुता का निवारण करने के लिये, हिन्दू–वैष्णव–परंपरा को शुद्ध धर्मसंप्रदाय के रूप में प्रस्तुत करने और आत्यंतिक मोक्षदायी तत्त्वदर्शन (दार्शनिक सिद्धांत) प्रदान करने के लिये १९ वीं

सदी के प्रारंभिक चरण में भगवान स्वामिनारायण ने अपने कार्य का प्रारंभ किया।

उन्होंने श्रीमद् रामानुजाचार्य प्रणीत विशिष्टाद्वैत का सम्मान किया, उसे प्रिय माना, परंतु उसकी कमजोर कड़ियों को जोड़कर अपने सर्वोपरि पद और अनुभव पर आधारित मौलिक, स्वतंत्र और बुद्धिग्राह्य दार्शनिक विचारों को तर्कपूर्ण युक्तिवादों और शास्त्रप्रमाणों के आधारपर प्रतिपादित किया। भिन्न-भिन्न मान्यताओं और श्रद्धाओं के प्रवाहों के बीच खड़े होकर, एक दार्शनिक आर्षद्रष्टा और धर्माचार्य के रूप में उन्होंने वेदांतदर्शन सम्बन्धी विचार प्रदान किये हैं। वे सहिष्णु, उदारमतवादी और मतांतरक्षमावान थे और अपने सिद्धांत-निरूपण में उन्होंने कभी भी किसी का खंडन नहीं किया। उनका आकलन मंडनात्मक रहा क्योंकि वे केवल एक दार्शनिक और धर्माचार्य ही नहीं, वरन धर्मसुधारक और समाजसुधारक भी रहे।

उन्होंने स्वयं प्रस्थानत्रयी पर भाष्य नहीं लिखे। उन्होंने तो, अपने वेदांत सम्बन्धी विचारों-सिद्धांतों को सादी-सरल-लोकभोग्य-स्पष्ट और असंदिग्ध रीति से लोकभाषा गुजराती में अपने प्रमुख ग्रंथ 'वचनामृत' में प्रस्तुत किया है। उनके प्रस्तुतीकरण की शैली और स्वरूप दोनों ही उदात्त प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी हैं। तत्त्वनिरूपण के दांव-पेचोंवाले जटिल और कठिन विषयों को उन्होंने सरल और बुद्धिग्राह्य स्वरूप में प्रतिपादित किया है हम कह सकते हैं कि:

"He brought philosophy from heaven to earth; and made it dwell in the low-roofed houses of men"

"वे गगनचारी तत्त्वज्ञान को धरती पर उतार लाये और आमजनता

की नीची छप्परोंवाले घरों में उसे बसाया—घर-घर में उसे गुँजा दिया।" इस प्रकार तत्त्वज्ञान अगम्य है और केवल ज्ञानियों का विषय है, इस भ्रम को दूर कर, सामान्य जनों के मस्तिष्क में भी तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म और जटिल बातें उतर सकें, इस प्रकार से उन्हें समझाया।

भगवान स्वामिनारायण ने अध्यात्मदर्शन का जीवनसिद्धि में पर्यवसान होना, आवश्यक माना है। बाह्य-वृत्ति में से अंतरदृष्टि और अंतर-दृष्टि में से अध्यात्मसिद्धि द्वारा ऊर्ध्वगति की ओर ले जानावाला यह तत्त्वज्ञान प्रेय और श्रेय का द्योतक है, परमपद का दाता है।

आधारग्रंथ :

स्वामिनारायणीय वेदांत – इस संप्रदाय को मान्य आठ सत्शास्त्रों पर आधारित है। (१) उपनिषदों सहित चार वेद, (२) व्यासजी रचित वेदांत सूत्र, (३) भगवद्‌गीता, (४) श्रीमद् भागवत, (५) महाभारत में अन्तर्निहित विष्णुसहस्रनाम, (६) विदुरनीति, (७) स्कंदपुराण के विष्णुखंड के अन्तर्गत वासुदेव माहात्म्य स्मृति। (शिक्षापत्री : ९३ से ९५ और वर: १८) शिक्षापत्री—श्लोक १०० में रामानुजाचार्यकृत श्रीभाष्य तथा गीताभाष्य को श्रीहरि ने प्रिय अध्यात्मशास्त्र के रूप में माना है।

शास्त्रप्रमाण के आविष्कार और अनुसरण में उन्होंने विवेक प्रदर्शित किया है। श्रीहरि कहते हैं : "व्यासजी स्वयं भगवान हैं... हमें व्यासजी के वचनों का ही अनुसरण करना चाहिए" (वर. १८)। तथा जिन शास्त्रों में भगवान के स्वरूप का ज्ञान, साकार स्वरूप की महिमा, भक्ति, वैराग्य और धर्म की अति उत्कृष्टता कथित हो उन्हीं शास्त्रों और उन शास्त्रों के वचनों को प्रधानतः स्वीकार करना चाहिए। "अतः उन ग्रंथों का श्रवण करना

और पठन करना और इन चार वस्तुओं (१. धर्म, २. भगवान के सदासाकार स्वरूप की उपासना, ३. भगवान के अवतारों के चरित्र और ४. भगवान की नाम-स्मरण महिमा) की ही बातें करनी चाहिए।" (ग. म. ३५)

सांप्रदायिक शास्त्रों में जिन्होंने स्वयं ही प्रामाण्य प्रदान किया उन सर्वोपरि-प्रमाणरूप श्रीहरि के स्वमुख से निसृत उपदेशों का संग्रह है 'वचनामृत' तत्पश्चात उनकी ही स्वलिखित 'शिक्षापत्री' और स्वबोधित उपदेश संग्रह 'वेदरस' (वेदरहस्य) है। इन तीनों ग्रंथों में उनका अभिगम मंडनात्मक है, खंडनात्मक नहीं। अतः वे अन्य किसी भी संप्रदाय या आचार्य के सिद्धांत-खंडन सम्बन्धी चर्चाओं और प्रतिवादों में नहीं पडे। उन्होंने स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में अपने सिद्धांतों का सरल भाषामें प्रतिपादन किया है। जो अनुभूति-प्रतीति नितान्त विशुद्ध, निश्चित तथा शास्त्र-प्रामाण्य है, वह अवश्यमेव सत्य है। ऐसा नितान्त सत्य आधारभूत और सर्वथा स्वीकार्य है। इस बात की प्रतीति उनके वचनामृतों से प्राप्त होती है। वे कहते हैं "यह बात जो हम कह रहे हैं वह वेद, शास्त्र, पुराण आदि जो-जो कल्याण के अर्थ पृथ्वी में शब्दमात्र हैं, उन सबका श्रवण कर और उनका सार निकाल कर कहा गया है। वह परम रहस्य है, और सार का भी सार है।" (म. २८) "यह बात जो हम कह रहे हैं, कुछ बुद्धि की कल्पना से नहीं कह रहे हैं, तथा सिद्धत्व प्रदर्शित करने के लिये नहीं कह रहे हैं। यह तो हमारे द्वारा आज़माई हुई बात है।" (ग. अं. ३९)। "यह हमने प्रत्यक्ष देखकर कहा है। इसमें कोई संदेह नहीं" (प. ६४)। "वह मेरे द्वारा द्रष्ट है। और सभी शास्त्रों में भी प्राप्त होता है।...... वह सभी शास्त्रों का

सिद्धांत है और अनुभव में भी वैसा ही है।" (म. १३) "पहले जो-जो मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं और आगे जो-जो पायेंगे और एव जो-जो मोक्ष मार्ग पर चल रहे हैं, उन सबके लिये यह बात जीवन-डोर के समान है।" (प्र. २८)

श्रीहरि के वचनामृतों पर भाष्यरूप ग्रंथ "गुणातीतानंद स्वामीनी वातो," सत्संगी जीवन, हरिलीलामृत, हरिलीला कल्पतरु, श्रीहरिदिग्विजय, भक्तचिंतामणि और निष्कुलानंद काव्य-ये प्रमुख पुष्टिकारक ग्रंथ हैं। तदुपरांत उपनिषद, वेदांतसूत्र, गीता और वेदस्तुति पर गोपालानंद स्वामी के भाष्य, नित्यानंद स्वामी के शांडिल्यसूत्रों पर का भाष्य तथा शिक्षापत्री पर शतानंदमुनिकृत भाष्य, स्वामिनारायणीय वेदांत के लिये उपयोगी हैं। सबसे अंत में लिखे गये ग्रंथों में श्री कृष्णवल्लभाचार्य कृत 'स्वामि-नारायण-वेदांतसार,' 'श्रुतितात्पर्य' और 'शिक्षापत्री-किरणावली' तथा श्री हर्षदभाई दवे कृत 'लाईफ एन्ड फिलॉसफी ऑफ स्वामिनारायण' का विशेष उल्लेखनीय स्थान है।

उपरोक्त सभी ग्रंथ-शास्त्र जितने अंशों में श्रीहरि के वचनामृतों के वचनों और सिद्धान्तों के साथ सुसंगत और पुष्टिकारक हैं, उतने अंशों में, उस हद तक वे सभी स्वीकार्य हैं, प्रामाण्य हैं।

शरीरी-शरीर सम्बन्ध

परब्रह्म सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व है। वह एक और अद्वितीय है। उसके तुल्य कोई नहीं है, उसी प्रकार उसके समकक्ष होने में कोई समर्थ नहीं है। "इस नारायण के समान तो एक नारायण ही है।" (लो. १३) जो परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा है यह पूर्ण पुरुषोत्तम है। वह एक ही सर्वोपरि,

सर्वतंत्र-स्वतंत्र और सब कारणों का कारण है। परब्रह्म सदा साकार, सदा सगुण, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, दिव्य और पूर्ण है। अनवधिकातिशय अनंत कल्याणकारी गुणों से युक्त तथा सकल ऐश्वर्यसंपन्न है। सर्व दोष और विकाररहित है, और अमायिक है। जीव, ईश्वर, माया (प्रकृति-जगत), अक्षरमुक्त और अक्षरब्रह्म-इन सबका आधार, नियामक, धारक और अन्तर्यामी केवल परब्रह्म ही स्वतंत्र, अतिसमर्थ, अंतर्यामी शक्ति के कारण सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा (सर्वप्रत्यक्षसाक्षी), सर्व-प्रेरक, सर्व-नियंता और सबकी आत्मा है। जबकि उसके सम्मुख जीव, ईश्वर, माया, अक्षरमुक्त और अक्षरब्रह्म – ये सभी परब्रह्म-परमात्मा द्वारा नियाम्य, व्याप्य, अधीन, परतंत्र और अतिअसमर्थ हैं। अतएव सबकी आत्मा, सर्वव्यापक और स्वतंत्र-सर्वाधार परब्रह्म को जीव, ईश्वर, माया, अक्षरमुक्त और अक्षरब्रह्म का शरीरी कहा गया है। जबकि जीव, ईश्वर, माया, अक्षरमुक्त और अक्षरब्रह्म को परब्रह्म का शरीर कहा गया है। यहां 'शरीर-शरीरी-संबन्ध' को शब्दार्थ या वास्तविक अर्थ में न लेते हुए उसके वास्तविक भावार्थ में समझना चाहिए। उन्होंने कहा है: "भगवान तो अनंत ब्रह्माड की आत्मा है।" (ग. म. १६) "मूर्तिमान होते हुए भी द्रष्टा और दृश्य दोनों का द्रष्टा है।" (प्र. ६४) "वह भगवान अणु-अणु में विराजमान है" (प्र. ७८) "क्षर और अक्षर इन दोनों को अपनी शक्ति से धारण करता है, और स्वयं तो क्षर-अक्षर से न्यारा है।" (प्र. ७२) "यह भगवान तो जिस प्रकार क्षर की आत्मा है, वैसे ही प्रकृति-पुरुष से परे जो अक्षरब्रह्म है उसकी भी आत्मा है।" (प्र. ७२) "आत्मा तथा अक्षर इन सबका प्रेरक है, और स्वतंत्र है, और नियंता है, और सकल ऐश्वर्य-संपन्न है, और पर से भी परे जो अक्षर है उससे भी परे है।" (प्र.

६४) और पुरुषोत्तम भगवान का शरीरत्व, व्याप्यत्व, अधीनता और असमर्थता उसी के कारण है।" (प्र. ६४) संक्षेप में, सबकी आत्मा, सबमें अन्तर्यामी रूप में व्यापक, सबका कारण और सर्वकर्ता होते हुये भी परब्रह्म सदा दिव्य, साकार और निर्लेप है। (म. १७ और प्र. ६२) इस प्रकार चिद् और अचिद् से विशिष्ट होते हुये भी परमात्मा स्वतंत्र और निर्लिप्त है। "चिदचिद्विशिष्टपरब्रह्मणश्चिदचिद्भिर्भिन्नत्वे भिन्नत्वात् परतत्वाच्च।" इस प्रकार सबसे पृथक् होते हुये भी परब्रह्म–परमात्मा जीव, ईश्वर, माया, मुक्तों और अक्षरब्रह्म से सदा विशिष्ट और एकमेवाद्वितीय है। यह एक स्वतंत्र–मौलिक वेदांत–दर्शन है जिसे हम 'नव्य विशिष्टाद्वैत' के रूप में जान सकते हैं।

परब्रह्म का स्वरूप—

परब्रह्म सबका प्रेरक है। उसके हिलाये विना एक तिनका भी हिलने में समर्थ नहीं है (प्र. ६४ और प्र. ७८)। अनंत कोटि ब्रह्मांड का राजाधिराज है (ग. अं. ३२)। सर्वकर्ता है। सर्व कारणों का कारण है। अति समर्थ है। कर्तुम्, अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् समर्थ है (लो. १३)। "अपनी (ब्रह्मरूप) अंतर्यामी शक्ति से सभी में व्याप्त है। और मूर्तिमान होते हुये भी सबसे विलग है।" (म. १३ और प्र. ४५) इस भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई जगत का कर्ता नहीं है (प्र. ३७) इस भगवान–सम होने में कोई समर्थ नहीं (म. ६१) भगवान का स्वरूप तो माया तथा माया के जो गुण हैं उनसे भी परे है। और सर्व विकाररहित है (प्र. २४) माया तथा माया के चौबीस तत्त्वों में भगवान का आगमन होता है तब वे भी ब्रह्मरूप और निर्गुण हो जाते है ऐसा शुद्ध, अविकारी,

निर्लिप्त और दिव्य वह परमात्मा है (व. १७) भगवान को अतिशय निर्दोष और दिव्य समझे तो फिर चाहे जितना दोषयुक्त मुमुक्षु भी अतिशय निर्दोष हो जाता है; ऐसी है भगवान के स्वरूप की महिमा । (प्र. २४) सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ भगवान एककलावच्छिन्न सब कुछ जानता है । अनंत कोटि ब्रह्मांड में रहते जो जीव और ईश्वर हैं इन्हें, जैसे हथेली पर जल बिन्दु रखा हो और उसे देखा जाये यों भगवान देखता है (म. ५३) ।

भगवान की मूर्ति परम चैतन्य सच्चिदानंदमय है । (पंचाळ. ७) अति रूपवान है, अति तेजस्वी है । (लो. १३) जिसके एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्य-सा प्रकाश है और कोटि कामदेव को लज्जित कर दे ऐसा सौन्दर्यवान भगवान का स्वरूप है । भगवान अतिशय सुखस्वरूप है, जिसके आगे अनंत रूपवती स्त्रियों को देखने का सुख तुच्छ हो जाता है और इस लोक तथा परलोक संबन्धी जो पंचविषयों के सुख हैं वे भगवान की मूर्ति के सुख के आगे तुच्छ हो जाते हैं, ऐसा है भगवान का स्वरूप । वह स्वरूप सदा द्विभुज है । (लो. १८) सर्व सुखमय मूर्ति तो वह भगवान ही है । (ग. अं. २८) वह सुख निर्गुण है, अखंड है, अविनाशी है । (वर. ९) भगवान की महिमा अपार, नेति है । (म. ५३) भगवान मायिक करचरणादिक से रहित परन्तु दिव्य करचरणादिक-युक्त है । (प्र. ४५) द्विभुज, द्विचरणयुक्त, सदा दिव्य, मनुष्याकृति भगवान का स्वरूप अति मनोहर है । सदा किशोरमूर्ति है । भगवान निर्गुण है, गुणातीत है, अमायिक है, दिव्य है । (म. १३) केवल भगवान हि कर्मफल प्रदाता है, धर्म-एकांतिक धर्म का धारक है । स्थल-काल-परिमाण-मर्यादा से

परे है। देश, काल, कर्म, माया इत्यादि का उतना ही वश चल सकता है जितना भगवान उन्हें चलने देता है। परमेश्वर की इच्छा के बिना अणुमात्र भी, ये सब, कुछ नहीं कर सकते। (म. २१) क्षर–अक्षर से विशिष्ट होने के कारण अनंतकोटि ब्रह्मांडों का निमित्तकारण तथा उपादानकारण भगवान है। अपने दिव्यधाम में सदा ही व्यतिरेकस्वरूप में रहने पर भी अन्वय-रूप (अंतर्यामी शक्ति द्वारा) से अक्षरब्रह्म तक सबमें तारतम्यता से रहता है। सर्वोपरि, अन्यथाकर्तुम् शक्तिधारक केवल वह परब्रह्म ही है। क्योंकि "जो अक्षर धाम में स्वयं रहता है वह अक्षर को भी लीन कर स्वयं स्वराट हो अकेले ही विराजमान रहता है; और उसकी मनोकामना हो तो वह अक्षरधाम के बिना भी अनंतकोटि मुक्तों को अपने ऐश्वर्य द्वारा धारण करने में समर्थ है...यों यह नारायण अपने ऐश्वर्य के कारण सर्वोपरि हो सकता है।" (लो. १३) इसी से भगवान पुरुषोत्तम को इंद्रियों–अन्तःकरण से अगोचर–ऐसा परब्रह्म कहा गया है। (प्र. ४ तथा लो. ७)

पुरुषोत्तम नारायण को तो सगुण भी नहीं कहा जा सकता और न ही निर्गुण कहा जा सकता है। (म. ४२) निर्गुणता और सगुणता तो इस (भगवान की) मूर्ति का एक अलौकिक ऐश्वर्य है। (का. १८) भगवान अपनी इच्छा से अपने में से निर्गुणरूप या सगुणरूप जो ऐश्वर्य है उसे प्रगट कर तत्पश्चात् अपने में ही लीन करता है। (का. ८) भगवान निर्गुण रूप में तो अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। और सगुण-रूप में तो अति स्थूल से भी स्थूल है (अणोरणीयान् महतो महीयान्)। निर्गुणरूप में भगवान अतिशय सूक्ष्म है, और अतिशय प्रकाशयुक्त है....सबकी आत्मारूप में सबमें

रहता है फिर भी अतिशय निर्विकार है, और असंगी है, और स्वयं अपने व्यतिरिक्त स्वभाव से युक्त है, और उसके तुल्य होने में कोई भी समर्थ नहीं होता...

सबकी आत्मा है फिर भी अक्षरपर्यंत कोई भी, पुरुषोत्तम भगवान के समान होने में समर्थ नहीं होता। (का. ८) सगुणता में तो भगवान की अतिशय महत्ता सर्वोपरि है। पुरुषोत्तम भगवान की महत्ता के सम्मुख अष्ट आवरणयुक्त अनंत कोटि ब्रह्मांड, अणु के समान अतिसूक्ष्म प्रतीत होते है। परन्तु वह ब्रह्मांड कोई छोटा नहीं हो जाता। वह तो भगवान की महत्ता के आगे लघु प्रतीत होता है। (का. ८)

"अक्षरब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया और माया के कार्यरूप ब्रह्मांड में भगवान को अन्तर्यामी कहना तथा नियंता कहना, वह भगवान की अन्वयता है; और वह सबसे पृथक होते हुए अपने धाम में जो ब्रह्मज्योति है उसमें रहता है – यों जो कहा गया है, वह भगवान की व्यतिरेकता है। (प्र. ७)

परब्रह्म और अवतारवाद

"परब्रह्म पुरुषोत्तम जो भगवान है वही अपनी कृपा से जीव के कल्याण के लिये पृथ्वी पर प्रकट होता है।" (प्र. ७१) "सभी अवतार पुरुषोत्तम में से प्रकट होते हैं और बाद में पुरुषोत्तम में लीन होते हैं।" (म. १३) "इस (अक्षरधाम के) प्रकाश में जो भगवान की मूर्ति है उसे आत्मा का तत्त्व कहें तथा परब्रह्म कहें तथा पुरुषोत्तम कहें। वही भगवान रामकृष्णादि रूप में अपनी इच्छा से जीवों के कल्याण के लिये युग-युग में प्रकट होता है। वह भगवान इस लोक में मनुष्य जैसा प्रतीत होता है परन्तु वह मनुष्य जैसा नहीं है और अक्षरधाम का पति है।" (म. १३)

"वैराजपुरुष द्वारा (भगवान के) ये अंशावतार होते हैं यों शास्त्रों में जो कहा गया है; उसे इस प्रकार समझना चाहिए कि, यह जो वासुदेव नारायण है वह पुरुषरूप से वैराजपुरुष में आकर विराजमान होता है तब वह अवतार कहलाता है। इसलिए वे अवतार तो सभी वासुदेव भगवान के ही हैं और वह वासुदेव भगवान जब प्रतिलोमतः इस वैराज-पुरुष से अलग पड जाता है तब केवल उस वैराजपुरुष द्वारा अवतार संभव ही नहीं (म. ३१)। क्योंकि "भगवान अपनी मूर्ति को जहां जितना दिखाना होता है वहाँ उतना अपनी इच्छा से दिखाता है। और जहाँ जितना प्रकाश करना उचित होता है वहाँ उतना प्रकाश करता है"। (लो. ४) संक्षेप में अंशावतार, आवेशावतार, कलावतार इत्यादि प्रकार के जो अवतार हैं वे सभी वैराजपुरुष में से—पुरुषोत्तम भगवान के तत्–तत् कालावधि के लिये, तत्–तत् प्रकार की अन्तर्यामी शक्ति द्वारा अनुप्रवेश से होते हैं। (पं- ७)

"यह भगवान मनुष्य देह को धारण करता है तब मनुष्य जैसे ही क्रिया–कलाप करता है।" (पं. ४) अपने ऐश्वर्य और तेज को अपने में समाहित कर मनुष्यसा हो जाता है। (प्र. ६३) अपनी सामर्थ्य को छिपाकर वह भक्त के साथ पुत्र-भाव, सखा-भाव, मित्र-भाव इत्यादि भावों से आचरण करता है। जैसी भक्त की इच्छा होती है वैसे लाड़ लड़ाता है। (का. ७)

"इस भगवान के जन्म और देह-त्याग की रीति तो अलौकिक है। (म. १३) जिस कार्य के निमित्त जो देह धारण किया हो वह कार्य हो चुकता है तब उस देह का त्याग करता है। (लो. १८) परंतु पृथ्वी पर प्राकृतिक देह धारण

करने पर भी भगवान जिन-जिन तत्त्वों को अंगीकार करता है वे सब तत्त्व ब्रह्मरूप हैं। निर्गुण हो जाते हैं। वह स्वयं माया से निर्लेप रहता है। (म. १३) इसीसे भगवान इस लोक के संदर्भ में मनुष्य-सा दिखता भी है फिर भी मनुष्य-सा नहीं है। (म. १३) उस भगवान का स्वरूप सदा द्विभुज, द्विचरणयुक्त, मनुष्याकृति और दिव्य है फिर भी अपनी इच्छा से कभी-कभी चतुर्भुज, अष्टभुज, अनंतभुजयुक्त स्वरूप दिखाता है तथा मत्स्य, कच्छप, वाराह आदि रूपों में भासमान होता है। इस प्रकार जहां जिस प्रकार का रूप उपयुक्त होता है वहां वैसा रूप प्रकाशित करता है परंतु स्वयं तो सदा एकरूप से ही विराजमान रहता है। (लो.-४., लो.-१८., पं.-४.)

अक्षरब्रह्म

'अक्षर', 'ब्रह्म', 'अक्षरब्रह्म' शब्दों को एक-दूसरे के पर्यायवाची रूप में भगवान स्वामिनारायण ने प्रयुक्त किया है। सामान्यतः अन्य आचार्यों तथा भाष्यकारों ने ब्रह्म और परब्रह्म अर्थात् अक्षर और पुरुषोत्तम के बीच की भिन्नता पहचानी नहीं या की नहीं। भगवान स्वामिनारायण के मतानुसार अक्षरब्रह्म से परब्रह्म पुरुषोत्तम निराला है। परब्रह्म-पुरुषोत्तम परम आध्यात्मिक तत्त्व है। जबकि अक्षरब्रह्म उसके पश्चात् का, उससे निम्न परंतु अक्षरमुक्त माया (प्रकृति-जगत), ईश्वर (विराट पर्यंत सभी देवी-देवता) और जीवों से पर और उनका आधार-रूप, स्वतंत्र आध्यात्मिक तत्त्व है। परब्रह्म, क्षर और अक्षर से परे है, क्षर और अक्षर की आत्मा है और शरीरी है। क्षर और अक्षर तो परब्रह्म के अधीन हैं, परतंत्र हैं और परब्रह्म की अपेक्षा अति असमर्थ है।

अक्षर ब्रह्म भी एक और अद्वितीय है। इस एक ही

अक्षर ब्रह्म के दो स्वरूप हैं, अर्थात् अक्षरब्रह्म मूर्त तथा अमूर्त इन दोनों रूपों में परब्रह्म की नित्य सेवा करता है ।

मूर्तिरूप में अक्षरब्रह्म परमात्मा समाकार है । द्विभुज और दिव्यतनु है । सत्-चिद्-आनंद लक्षणोंयुक्त है । सदा साकार है, अमायिक है, त्रिगुणातीत है, निर्गुण है, प्राकृत-दोषों रहित है और कल्याणकारी गुण ऐश्वर्यों से युक्त है । मूर्तिमानरूप में परमधाम-अक्षरधाम में परब्रह्म की नित्य सेवा में अतिशय-निकटतम, उत्तम सेवक भक्त के रूप में समीप रहता है । मोक्ष-मार्ग पर चलनेवाले मुमुक्षुओं के लिए उत्तम भक्त और दास्य भक्ति का परम आदर्श अक्षर ब्रह्म है । (प्र. २१) यों अक्षर मूर्तिमान है फिर भी अति विशाल होने के कारण किसी की दृष्टि में अक्षर का रूप आता नहीं । जिस प्रकार विराट का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार अक्षर भी मूर्तिमान है परंतु किसी को नजर नहीं आता (प्र. ६३) क्योंकि अक्षर के एक-एक रोम में, अणु की भाँति; अनंत कोटि ब्रह्मांड रहते हैं, वे ब्रह्मांड अक्षर के संदर्भ में छोटे नहीं हो जाते, वे तो अष्ट आवरण सहित वर्तमान रहते है परंतु अक्षर की अतिशय महानता है-उसके सम्मुख ब्रह्मांड अतिशय छोटे (अणुतुल्य) दिखाई पड़ते हैं । (म. ४२) जगत की उत्पत्तिरूप मानी जाती माया का आधार भी अक्षरब्रह्म है; जबकि परब्रह्म तो सब कारणों का कारण, सर्वोपरि परमात्मा है और अक्षर का भी आधार है । अक्षरब्रह्म माया में व्याप्त होकर रहता है । फिर भी वह माया द्वारा लुप्त नहीं हो जाता क्योंकि वह अक्षर सदैव परब्रह्म के सुख से सुखी है और पूर्णकाम है । (म. ३१) अक्षर कूटस्थ है, सदा ही एकरूप रहता है । (प्र. ६३) अक्षर मूर्तिमान है फिर भी व्यापक भी है । (का. ४) अक्षर व्य-

तिरेक स्वरूप में मूर्तिमान और सगुण-साकार हैं, और यही अक्षर अन्वय स्वरूप में सगुण परंतु निराकार, सर्वव्यापक, ज्योतिः स्वरूप, परमधाम ब्रह्मपुर है। और पुरुषोत्तम भगवान सबमें कारणरूप में अन्तर्यामी स्वरूप में प्रवेश कर रहता है, परंतु जिस प्रकार अक्षर में है (वैसा) उस प्रकार पुरुष-प्रकृति इत्यादि में नहीं रहता। (प्र. ४१) अक्षर में नित्य सम्यक रूप से रहता है। परब्रह्म जब पृथ्वी पर पधारता है तब अपने स्वयं के आत्मरूप अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर विराजमान है-यों समझना चाहिए ये भगवान स्वामिनारायण का मत है। (प्र. ६४) संक्षेप में पुरुषोत्तम भगवान जहां-जहां अवतरित होते हैं और जहां-जहां निवास करते हैं वहां उनके साथ अक्षरब्रह्म भी होता है। अक्षरब्रह्म और परब्रह्म पुरुषोत्तम के बीच अत्यंत घनिष्ट, नित्य, अवियोगी सम्बन्ध है।

इसी अक्षरब्रह्म का (अन्य) दूसरा स्वरूप अर्थात निराकार एकरस, चैतन्य-यों परमात्माका ब्रह्मधाम है। वह सच्चिदानंद है। शास्त्रों में उसे ब्रह्मधाम, ब्रह्मपुर, चिदाकाश, ब्रह्ममहोल परमधाम, अक्षरधाम इत्यादि नामों से वर्णित किया गया है। इस ब्रह्मधाम को सबसे परे, अधः, ऊर्ध्व और सर्वत्र प्रमाणरहित विशाल, सर्वव्यापक, चैतन्यमय तेज का सर्वदिशि विस्तीर्ण समूह के रूप में वर्णित किया गया है। अक्षरधाम नित्य, सनातन, अविकारी, अप्राकृत, अनादि, अनंत और ज्योतिःस्वरूप है। धामरूप अक्षर के इस स्वरूप में परब्रह्म-परमात्मा सदैव विराजमान रहता है। ऐसा अक्षरधाम (धामरूप अक्षर) परब्रह्म-पुरुषोत्तम मूर्तिमान (सेवक रूप) अक्षरब्रह्म और अनंतकोटि मुक्तों का नित्यनिवास स्थान है। यह अक्षरधाम अति तेजोमय है। धाम के ज्योतिःस्वरूप को समझाते हुए भगवान स्वामिनारायण कहते

हैं; यदि समग्र पृथ्वी कांच की हो और अगणित तारे, सूर्य हों तब जिस प्रकार के तेज का महासागर शोभित होगा, अक्षरधाम ऐसा अनवधिकातिशय तेजमय है। अनंतकोटि सूर्य और चंद्र का तेज एकत्रित किया जाये तो भी वह अक्षरधाम के तेज के तुल्य नहीं हो सकता, ऐसी शीतल और शांत, अक्षरब्रह्म ज्योतिः स्वरूप है। (प्र. १२, १४, ३०, ४६, ६३, म. १३) इस अक्षरधाम की प्राप्ति ही परमपद मोक्ष की प्राप्ति है।

भगवान स्वामिनारायण इस अक्षरब्रह्म के स्वरूप और महिमा को समझाते हुए कहते हैं: सगुण और निर्गुण संज्ञाएँ अक्षर पर लागू होती हैं, क्योंकि अक्षरब्रह्म निर्गुणत्व में अतिसूक्ष्म है और एक परमेश्वर के सिवाय सबमें व्याप्त है। माया और माया के कार्य अनंतकोटि ब्रह्मांड में अन्वयत्व से बाह्यांतर व्यापक है। जबकि सगुण रूप में वह (एक परमेश्वर के सिवाय) बड़े से बड़े पदार्थ से भी अति विशाल है (प्र. ७, म. ४२, ६४) और वह अक्षरब्रह्म सदैव पुरुषोत्तम के दास्य-भाव से रहते हैं।

पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, अहंकार, महतत्त्व, प्रकृति पुरुष, इत्यादि सबका कारण (आधार) अक्षरब्रह्म है। इस अक्षर की संकोच और विकासावस्था नहीं होती। वह कूटस्थ है, सदा ध्रुव है, अचल है। सदैव एकरूप रहता है। और पुरुषोत्तम तो अक्षर से भी पर है। (प्र. ६३) परब्रह्म तो अक्षर से अन्य है, और उत्तम है। इसीसे परब्रह्म का परत्व सर्वोपरित्व बताते हुयें भगवान स्वामिनारायण कहते हैं कि परब्रह्म तो जिस अक्षरधाम में स्वयं रहता है, उस अक्षर को भी लीन कर, स्वयं विराट हो अकेले ही विराजमान रहता है: और स्वयं के मन में आये तो इस अक्षरधाम के बिना भी अनंतकोटि मुक्तों

को भी अपने ऐश्वर्य से धारण करने में समर्थ है।" (लो. १३)

मूर्तिमंत अक्षरब्रह्म की साधर्म्यता को प्राप्त कर केवल भगवान की मूर्ति में ही निमग्न रहने वाला भक्त ही निर्विकल्प समाधियुक्त है। और वही मुक्ति को प्राप्त करता है। और वही परब्रह्म की नित्य भक्ति का अधिकारी बनता है। (प्र. ४०, शिक्षापत्री-१२१, ११६)

माया-प्रकृति-जगत

'माया' शब्द से त्रिगुणात्मिक प्रकृति का निर्देश किया गया है। माया को अविद्या, तमस्, प्रकृति, अव्यक्त इत्यादि नामों से भी अभिहित किया गया है। सत्त्व, रजस् और तमस्-इन तीन गुणों से युक्त होने के कारण उसे त्रिगुणात्मिक कहा है। माया अंधकाररूप है, जड़ चिदात्मक है, नित्य है, निर्विशेप है। देह तथा देह से संबन्धित अहंकार-ममत्व की उत्पादिका है। माया भी परब्रह्म के अधीन है, परब्रह्म द्वारा नियाम्य है, परतंत्र है और परब्रह्म की शक्ति है। (यहां माया शब्द से महामाया-मूलमाया-मूलप्रकृति को परब्रह्म की शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है) माया परब्रह्म की कार्योपयोगी परन्तु परब्रह्म पर सदैव अवलंबित शक्ति है। फिर भी परब्रह्म माया से सदा निर्लिप्त, असंगी है। माया अचेतन (अचिद्) है, विभु है—और महतत्त्वादि चौवीस * तत्त्वों से युक्त है।

* चार अंतःकरण—महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, चित, मन, + पाँच ज्ञानेन्द्रियां—नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका : + पंच कर्मेन्द्रियां—वाणी, हाथ, पद, लिंग गुदा; + पांच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध: + पांच भूत—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी कुल २४ तत्त्व।

माया को विस्मयकारक कहा गया है। माया के चमत्कार को समझ सकना दुष्कर है। उसके पाश से मुक्त होना अत्यंत कठिन है। ब्रह्मस्वरूप संत और उनसे प्राप्त सत्यज्ञान के विना माया को पहचानना और तरना असंभव है। माया के कारण, आत्मा के स्वरूप का और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो नहीं पाता। भगवान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में राग या ममत्व को तथा भगवद्ध्यान में विघ्नरूप सभी पदार्थों को माया कहा है। इसीसे भगवान के अतिरिक्त अन्य में ममता रखने को, देह संबन्ध में अहंबुद्धिको, देह संबन्धी पदार्थ में ममत्व बुद्धि को तथा पंचविषयोंमें रति को माया कहा है। प्रमाद तथा मोह माया के ही कार्य हैं।

चेतन जीवेश्वरों को जड–संज्ञा दिलाने की शक्ति माया में निहित है। माया निर्विशेप है, अनादि है, महत्तत्वादिक चौवीस तत्त्वों की जनक है, जीवेश्वरों के बंधन का कारण है, जीवेश्वरों का क्षेत्र है। परब्रह्म-परमात्माके एक देशमें शक्तिरूप से स्थित माया, उसी परमात्मा द्वारा प्रदत्त सत्ता से जगत, ईश्वरों और जीवों में व्याप्त है। परंतु माया की सत्ता परमेश्वर, परमेश्वर के अवतारों, अक्षरब्रह्म, ब्रह्मस्वरूप संतों और अक्षरमुक्तों पर नहीं चलती। इन सबमें माया का लेश मात्र अंश नहीं। ये सभी दिव्य, निर्दोष और निर्लिप्त हैं। विपरीततः जिनपर भगवान तथा ब्रह्मस्वरुप संतों का कृपा प्रसाद है, उन मोक्षमार्गी भक्तजनों तथा मुमुक्षुओं के लिये भी माया सानुकूल हो जाती है।

गाढ़ अविद्यामय-अंधकार जैसे प्रलयकाल में माया-प्रकृति में असंख्य चेतन तत्त्व, जीव और ईश्वर जडतुल्य हो लीन (बीज रूप) रहते हैं। इसीसे माया को जडचिदात्मक कहा है।

माया ही जीवेश्वरों के लिये अविद्या–कर्म, अज्ञान और बंधन का कारण है। (सत्संगिजीवनम्–१२/६) माया (महामाया) उत्पत्ति रहित है, नित्य है। जबकि माया के कार्यरूप जो महद्‌ादि चौवीस तत्त्व हैं वे अनित्य हैं, नाशवंत हैं। इसीसे जगत, सत्य है, परन्तु नित्य नहीं है। जगत, भ्रम, भ्रांति या काल्पनिक नहीं, परन्तु नाशवान और दुःख तथा बंधनकारक है। इस प्रकार स्वामिनारायणीय वेदांत यथार्थवादी (realistic) (वास्तववादी) है। माया (महामाया) और काल (महाकाल–अखंडकाल) ये दोनों परमेश्वर की शक्तियाँ हैं। (लो. १७) ये दोनों परब्रह्म के अधीन, परब्रह्म द्वारा नियाम्य, परब्रह्म के सन्मुख अति असमर्थ और परतंत्र तथा परब्रह्म की इच्छा से उनके द्वारा प्रयुक्त होती शक्तियां हैं। मुक्त, अक्षर और पुरुषोत्तम ये तीनों काल–माया से परे हैं, निर्बंध हैं, निर्लिप्त हैं।

उत्पत्ति सर्ग

उत्पत्ति के समय परब्रह्म-पुरुषोत्तम संकल्प कर, अक्षरब्रह्म के सन्मुख दृष्टि करता है, तब अक्षरधाम में से एक अक्षरमुक्त परमेश्वर की इच्छा से सृष्टिरूप सेवा करने के लिए उद्यत होता है उस समय पुरुषोत्तम, अक्षरब्रह्म में प्रवेश कर, उसके द्वारा अक्षरपुरुष (अक्षरमुक्त) में प्रवेश करता है। यों परब्रह्म, पुरुषरूप होकर (पुरुष द्वारा) मूल प्रकृति (महामाया) में अपनी शक्ति को प्रेरित करता है। माया के तीन गुणों की साम्यावस्था विचलित होती है। इस प्रकार, पुरुष (अक्षरात्मक पुरुष) और प्रकृति (मूल प्रकृति) के सान्निध्यमात्र से और प्रेरकशक्ति से अनंत 'प्रधान + पुरुष' के जोड़े अनंत ब्रह्मांडों के सर्जन के लिये उत्पन्न होते हैं। (प्र. १२) प्रत्येक 'प्रधान + पुरुष' *

* प्रधान = निम्न प्रकृति और पुरुष = ईश्वर

के जोड़ेमें से देवलोक, दैत्यलोक और स्थावर–जंगम सृष्टियुक्त मनुष्यलोक का चैावीस तत्त्वों से बना एक–एक ब्रह्मांड उत्पन्न होता है (प्र. ४१ और प्र. १२)। उत्पत्ति की बात को सुंदर रूपक के माध्यम से भगवान स्वामिनारायण समझाते हैं :

"जीव, माया, ईश्वर, ब्रह्म और परमेश्वर–ये सभी अनादि हैं। माया जो है, वह तो पृथ्वी के समान है। और पृथ्वी में निहित रहने वाले जो बीज होते हैं–उनके समान हैं जीव। और ईश्वर तो मेघ के समान है। परमेश्वर की इच्छा से पुरुषरूप जो ईश्वर है उसका माया से संयोग होता है और तब जिस प्रकार मेघ के जल के योग से पृथ्वी में निहित सभी बीज उग आते हैं; उसी प्रकार माया में से अनादि काल के जीव उद्‌भूत हो जाते हैं, परन्तु नये जीव नहीं उत्पन्न होते। इसीलिए जिस प्रकार ईश्वर अनादि है–और उस माया में निहित जो जीव हैं वे भी अनादि हैं।" (ग. अं. १०) संक्षेप में, सर्व सृष्टि के पूर्व एक परमात्माही था, और सर्व सृष्टि के प्रयत्न के अंत में भी वह एक ही रहता है। (प्र. ५६) परमात्मा, उसका अपना अक्षरधाम और मुक्त—ये तीन नित्य निरंतर थे, हैं और रहेंगे क्योंकि वे सब महा माया से परे हैं।

उत्पत्तिसर्ग की मीमांसा, तीन मुद्दों को स्पष्ट करती है–१ परब्रह्म परमात्मा ही जगत का निमित्तकारण है, क्योंकि उसके संकल्प, प्रेरणा और प्रवेश से ही उत्पत्ति प्रारंभ होती है। पुनः जगत का उपादान कारण भी परब्रह्म–परमात्मा है, क्योंकि परमात्मा के शरीर के एक देश में–जीवेश्वरों को लीन कर रहती माया–प्रकृति से ही अनंत ब्रह्मांड उत्पन्न होते हैं (व्यक्त होते हैं) (२) उनके द्वारा अभिप्रेत कार्यकारण सिद्धांत है– 'परब्रह्म

प्रशासित प्रकृति–परिणामवाद, ' क्योंकि परब्रह्म के संकल्प-मात्र से ही प्रकृति तथा पुरुष का संयोग और वियोग क्रमशः सृष्टि तथा प्रलय के लिये होता है। इसे सत्कार्यवाद भी कह सकते हैं। माया सत् है। माया का कार्य सत् है। सत् ऐसे परब्रह्म की संकल्पशक्ति का पुरुष के माध्यम से परिणाम है। परब्रह्म चिद्–अचिद् में व्याप्त हो रहता है। इस प्रकार परमेश्वर सब कारणों का कारण हैं। (३) परब्रह्म, किसी भी प्रकार के दबाव, कर्तव्य या खिलवाड़ के लिये सर्जन–प्रक्रिया का प्रारंभ नहीं करता। अतिशय करुणायुक्त कृपाप्रसाद से प्रेरित हो, कल्याणकारी हेतु से परब्रह्म जगत की सृष्टि करता है। अनादि-काल से माया बद्ध जीवों की मायाकृत उपाधियों से मुक्ति हो, ब्रह्मरूप होकर अविद्या, जन्ममरण से निवृत्ति प्राप्त हो, तथा पूर्णत्व, परमानंद और परमेश्वर के धाम में नित्य निवास करने का अवसर मिले—इस शुभ हेतु से परमेश्वर जगत की सृष्टि करता है। उसी प्रकार जब नाना-प्रकार की संसृति से जीव थक जाते है तब उनकी विश्रांति के लिए प्रलय करता है। (कारी–१ के आधार पर)

ईश्वर

ईश्वर, चैतन्यधर्मयुक्त भिन्न तत्त्व है। ईश्वरकी चैतन्य-धर्मिता जीव से अधिक है एवं श्रेष्ठ है। ईश्वर असंख्य हैं। एक–दूसरे से भिन्न हैं। जीव और ईश्वर के बीच खद्योत–नक्षत्र जितनी भिन्नता है। चैतन्यता, धर्मभूतज्ञान और सर्वज्ञता ईश्वर के लक्षण हैं। ईश्वर की सत्ता और ज्ञानशक्ति जीव से बढ़कर हैं। ईश्वर जीव से स्वतंत्र, भिन्न और परे है; परंतु माया, अक्षरमुक्त, अक्षरब्रह्म और परब्रह्म से भिन्न है।

ईश्वर परब्रह्म के अधीन, परब्रह्म द्वारा व्याप्य और परब्रह्म के सम्मुख अति असमर्थ है।

ईश्वर की देह में रहते पंचभूत, महाभूत हैं। विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत–ये तीनों ईश्वर के शरीर हैं और ईश्वर उनका शरीरी हैं। सभी ईश्वर महामाया से बद्ध हैं, महाकारण-देह से युक्त हैं। विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत–यह ईश्वर की देहरूप माया है (का. १२)। ईश्वर की स्थिति प्रकृति के अष्ट आवरण के अन्तर्गत है। प्रलयकाल में ईश्वर भी प्रकृति में (मूल प्रकृति में) लीन हो (लय हो) जाता है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीनों ईश्वरों की अवस्थाएँ हैं। ईश्वर भी जीव की तरह माया से (महामाया से) वेष्टित है। ईश्वर की आयु–मर्यादा जीव की अपेक्षा अत्यधिक लंबी और विस्तृत है। ईश्वर सर्वज्ञ है। अर्थात् ईश्वर की ज्ञातृत्वशक्ति अपने देह के उपरांत, जिस ब्रह्मांड का कार्य उसे सौंपा गया है उस ब्रह्मांड में व्याप्त है। ईश्वर की सर्वज्ञता जिस ब्रह्मांड पर उसका आधिपत्य चल रहा है उस तक सीमित है। ईश्वर अपने प्रशासन के अन्तर्गत के ब्रह्मांडमें से जिसकी भी देह (रूप) धारण करना हो और जहां भी प्रकाशित होना हो वहां उस देह से प्रकट हो सकने की ऐश्वर्य–सामर्थ्ययुक्त होता है। सभी ईश्वरों को पुरुप (मूल पुरुप) की उपासना करनी होती है। ईश्वर को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पृथ्वी पर भगवान या भगवान के धारक संतों के सान्निध्य में मनुष्य-देह धारण सेवा–समागम करने के लिए आना पड़ता है। फिर वह ईश्वर सत्यज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् अपनी आयु–मर्यादा पूरी कर पुरुपोत्तम की भक्ति–उपासना के बल पर भगवान के परम धाम को पाता है।

जीवका जैसे माया से सम्बन्ध है वैसे ही ईश्वर का भा (महा) माया से सम्बन्ध है। दोनों बद्ध हैं। ईश्वर माया के भोग को भोगकर प्रलयकाल में माया को त्याग कर सकते है, अतः त्याग करते हैं, जबकि जीव तो माया का भोग भोगकर, दुःखी होकर माया में ही पुनः लीन होता है। परंतु स्वयं अपने आप माया का त्याग नहीं कर सकता। जीव तथा ईश्वर इन दोनों का प्रकाशक तथा दोनों में अंतर्यामी रूप में व्याप्त हो, परब्रह्म-परमात्मा रहता है।

महावैराज, महाविष्णु, भूमापुरुष, विराट से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चंद्र, अग्नि, वरुण इत्यादि सभी देवी-देवताओं का ईश्वरकोटि में समावेश होता है।

जीवात्मा

जीव परमाणु की भाँति अति सूक्ष्म है, चैतन्यरूप है, अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा समग्रदेहमें नख से शिखा तक व्याप्त हो रहता है। अछेद्य, अभेद्य, अजर, अमर इत्यादि लक्षणयुक्त है। जीव चेतनद्रव्य है जो अपने ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा सब कुछ जानता है, ग्रहण करता है। जिस प्रकार दीवानखाने के मध्यभाग में रखे दीपक के ज्योति की उपस्थिति से कमरे में चारों ओर रखे गये सभी पदार्थ-मात्र का ज्ञान होता है (दिखता है) तथा दीपक का और दीपक की रोशनी का भी ज्ञान होता है, उसी प्रकार ज्ञातृत्वशक्ति द्वारा समग्र देह में व्यापक होने के कारण ज्ञानप्रक्रिया में (जानने-अनुभव करने की प्रक्रिया में) जिन-जिन पदार्थों को इन्द्रियों अंतःकरण द्वारा ग्रहण करते हैं, उनका ज्ञान होता है, कोई नूतन (जाना) ज्ञान प्राप्त हुआ-उसका भी ज्ञान होता है और जिसने जाना अर्थात् जाननेवाला जो

जीवात्मा है उसका भी ज्ञान होता है। यह ऐसा धर्मभूतज्ञान, चैतन्यरूप जीवात्मा का अप्रृथक्सिद्ध लक्षण है, "जीव चिद्रूप है, ज्ञानस्वरूप है। यही नहीं, परंतु ज्ञाता है, अर्थात् ज्ञान का आश्रय जीव में ही है। *" संक्षेप में, जीव सदा ज्ञानशक्ति-युक्त है। उसके गुणधर्म देह के धर्म से भिन्न हैं। देह, इन्द्रियाँ, अंतःकरण, इत्यादि के स्वरूप के भेदों को समझनेवाला (श्रोता) और समझानेवाला (वक्ता) जीव है। देहादिक सभी को प्रमाणित करनेवाला और जाननेवाला जीव है। इन सबसे जीव विलक्षण है। (प्र. ३८) दस इन्द्रियों तथा चार अंतःकरणों द्वारा जीव सभी विषयों को ग्रहण करता है। (जे. २) जीव चैतन्यद्रव्य है परंतु उसका चिपकने का स्वभाव है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर रूप मायिक संबन्ध की वजह से जीव अपने-आप को अज्ञानी और बद्ध मानता है। (म. ६६) जीव, परमेश्वर का अंश नहीं। इसके विपरित, जीव एक नित्य-भेद के रूप में ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म से भिन्न है। जीव, देह, इन्द्रियों, अंतःकरण का अधिष्टाता है, उनका शरीरी है। देह के विकार, हानि या नाश से जीव का कुछ भी विकार, हानि या नाश नहीं होता, जीव अविनाशी है।

जीव असंख्य हैं। प्रत्येक सजीवतंत्र में (देह में) भिन्न जीव हैं। जीव ईश्वरों से भिन्न हैं, निम्न हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहों से युक्त हैं। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति – जीव की ये तीन मायाएँ (अवस्थाएँ) हैं। हरेक सजीवतंत्र में जीव कर्ता है परन्तु जीव का कर्तृत्व परमेश्वर के अधीन है। जीव पराधीन, परतंत्र है, असमर्थ है, जबकि परमात्मा उसका आधार है, सर्वतंत्र-स्वतंत्र है और अति समर्थ है।

लेखक-शतानंदमुनि

* शिक्षापत्री, भाष्य, श्लोक १०५

सामान्य अर्थमें जीव चाहे जो करने में स्वतंत्र है परंतु जीव की कर्तृत्वशक्ति परमात्मा के अधीन है। यह जीव जिन–जिन क्रियाओं में प्रवृत्त होता है वह भगवान की जो क्रियाशक्ति होती है उसके अवलंबन से प्रवर्तित होती है। (प्र. ६५) अर्थात् सर्व जीवेश्वरों में अंतर्यामी परमेश्वर की प्रेरकशक्ति के कारण क्रियाएँ संभव होती हैं। परन्तु अनादिकाल से जीव को अविद्या–कर्मरूप उपाधियाँ जकड़ी हुई होती है। जिसकी वजह से जीव अलग-अलग योनि में विवेक-मर्यादा भूलकर कर्म करता है। अच्छे-बुरे कर्म कर स्वयं ही अपना प्रारब्ध गढ़ता है। यों अविद्या, कर्म और प्रारब्धवश जीव अच्छे-बुरे कर्मों का चुनाव स्वयं ही करता है और उसकी वजह से सुखी-दुःखी होता है, परन्तु सत्शास्त्र और सत्पुरुष की संगति में सच्चा मार्गदर्शन प्राप्त कर, जीव इस बंधन से मुक्त हो, अबंधकारी कर्म कर, आत्यंतिक मोक्ष साध सकता है। यों जीव को प्राप्त संकल्प–स्वतंत्रता (**freedom of will, freedom of choice**)परमात्मा द्वारा प्रदत्त है, परंतु जीव जिन कर्मों को चाहता है (पसन्द करता है) और उनके आधार पर कर्म करता है वे सभी उसके अविद्या-कर्म के बंधनों द्वारा निर्णीत किये गये होते हैं। इसलिये जीव को प्राप्त समर्थता, कर्तृत्व, संकल्प–स्वतंत्रता को हम 'परमेश्वर-दत्त-स्वतंत्रता' के रूपमें जान सकते हैं। संक्षेप में जीव की क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति,— स्वयं के अविद्याकर्म की उपाधियों द्वारा सीमित हैं और परमात्मा के अधीन हैं। जीव अनादिकाल से मायावेष्ठित है, अर्थात् अविद्या-कर्म से बद्ध है। उसके कारण जीव सुख-दुःख, जन्मजरा मृत्यु और संसार की भिन्न-भिन्न योनियों में से गुजरता है। देह की तुलना में जीव समर्थ है, जबकि देह असमर्थ है;

जीव कर्ता है, भोक्ता है, ज्ञाता है। मन, इन्द्रियाँ, देह ये सभी जीव के क्षेत्र हैं और जीव इन सबका क्षेत्रज्ञ है। जीवों और ईश्वरों में अंतर्यामी रूप में व्याप्त हो परमात्मा सदा अवस्थित है। परमेश्वर जीवों का कर्मफलप्रदाता है। परमेश्वर जीवों को जब कर्मफल का भोग देता है तभी वे भोगते हैं (प्र. ६६) और सुख-दुःख से जीवों का संबन्ध (फलरूप में) होता है। ये सब पुरुषोत्तम भगवान के हाथ में है। (प्र. ७८)

साकार भगवान की उपासना से जीवात्मा माया के बंधन से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। भगवान द्वारा बांधी गई धर्ममर्यादा का पालन (कर्म), वैराग्य (अनासक्ति), ब्रह्म-परब्रह्म के सदासाकार स्वरूप का ज्ञान तथा सदासाकार परब्रह्म की उपासना–भक्ति–इन चार साधनों युक्त एकांतिकी साधना से जीव पर परमात्मा का अनुग्रह होता है, और जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। जीव निराकार है, परन्तु प्रकट साकार अक्षर-ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा का साधर्म्य प्राप्त कर और सदा साकार परब्रह्म की उपासना से मुक्त अवस्था में साकारता (दिव्यतनु) प्राप्त करता है।

ज्ञान

इस धर्मदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान, जीवात्मा को अंतःकरण–इन्द्रियों के द्वारा बाह्य-जगत के संपर्क में आने से प्राप्त होता है। जब जीव (संभव हो तब तक) सभी इन्द्रियों का उपयोग कर तथा अन्तःकरण और जीव को पिरोकर प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है तब वह भ्रांतिरहित और यथार्थ ज्ञान होता है। अनुमान से प्राप्त होता ज्ञान, पहले प्राप्त किये प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है। लौकिक मामलों में विश्वसनीय व्यक्तियों के

शब्द, प्रमाण माने जाते हैं। जबकि पारलौकिक ज्ञान के मामले में भगवान की परावाणी शास्त्र, (विशेषकर, व्यासजी रचित शास्त्र) तथा श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ संतपुरुष (सद्गुरु) के वचन,-ये सर्वोपरि प्रमाण हैं।

जगत-संबन्धी ज्ञान भी, सत्य ज्ञान है क्योंकि जीव, जगत ईश्वर, प्रकृति, मुक्त, अक्षर और पुरुषोत्तम – ये सभी भेद सत्य हैं। जाननेवाला जीव और जानने योग्य जगत के पदार्थ सत्य हैं। इस प्रकार सत्ख्यातिवाद का स्वीकार किया गया है, यों हम कह सकते हैं। और पुनः वास्तविक जगत में होते प्रत्यक्षज्ञान की सत्यता अबाधित रूप में समझाने के लिए पंचीकरण प्रक्रिया भी स्वीकार की गई है। स्वप्नसृष्टि भी सत्य है क्योंकि सर्वकर्मफलप्रदाता ईश्वर ही, जीवेश्वरों की स्वप्नावस्था में, सूक्ष्म देहकृत राजस कर्मों का फल देने के लिए, स्वप्न में अनुभव करते पदार्थों का सर्जन करता है। जागृत-स्वप्न में होता जगतविषयक ज्ञान अपराविद्या है।

ज्ञान स्वयंप्रकाशित, नित्य, विभु और अचेतन द्रव्यविषयक पदार्थ है। सद्-असद् अर्थात् आत्मा अनात्मा का विवेक, तथा जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म-इन पाँच भेदों का यथार्थ ज्ञान-यह पराविद्या है। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान, मुक्त, अक्षर और पुरुषोत्तम के स्वरूप तथा महिमा का ज्ञान-यह पराविद्या है। प्रत्यक्ष भगवान और प्रकट ब्रह्मस्वरूप संत-जिनमें परमेश्वर अखंड निवास कर रहता है –उनसे प्राप्त होता संपूर्ण ज्ञान यह पराविद्या है। इंद्रियो-अन्तःकरणों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह बाह्य है, लौकिक है। ज्ञान की उत्पत्ति माने ज्ञान का विकास और ज्ञान का नाश माने ज्ञान का संकोच।

भगवान पुरुषोत्तम को तो सहतत्त्व जानना चाहिए। इंद्रियों, अन्तःकरण और अनुभव – इन तीनों से यथार्थ रूप से प्रत्यक्ष भगवान को जाने तब वह पूर्ण ज्ञानी कहलाता है। ऐसा जीवसत्ता तदाश्रित अनुभवज्ञान सर्वोपरि है। (लो–१) ऐसा ज्ञानी भगवान को सर्वकर्ता, सदा साकार, सर्वोपरि,, सगुण, सर्वज्ञ, अति मनोहर, त्रिगुणातीत, अतितेजस्वी, अतिसमर्थ, सर्वतंत्र-स्वतंत्र, सर्व कारणों का कारण, सर्वाधार, सर्व का नियामक, धारक, तारक, रक्षक, कर्मफलप्रदाता, मनुष्याकृति, सदादिव्यमूर्ति, नित्यनिर्लिप्त और सदा प्रकट मानता है। धाम की मूर्ति और प्रत्यक्ष (अवतरित) मूर्ति को एक समान गुणातीत, दिव्य और अमायिक समझता है, यही नहीं बल्कि साथ ही परमेश्वर के अखंडधारक ब्रह्मस्वरूप संत को भी दिव्य गुणातीत और अमायिक जानता है। भगवान अंतर्धान होते ही नहीं; सदा संत के द्वारा प्रकट रहते हैं, यों ज्ञानी समझता है। ऐसे यथार्थ ज्ञान का फल एकांतिकी भक्ति है, ब्राह्मी-स्थिति की प्राप्ति है और परमपद मोक्ष की प्राप्ति है। सम्यक् ज्ञान, भक्ति तथा उपासना को अधिक से अधिक दृढ़ीभूत करता है। ऐसे भक्तिमूलक, भक्तिपोषक ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान भक्ति का सहकारी है।

ज्ञान जीव का नित्य अपृथक्सिद्ध गुणधर्म है। धर्मभूत ज्ञान का सिद्धांत स्वीकार्य है। जीव के संदर्भ में, ज्ञान उत्तरोत्तर, अधिक से अधिक मात्रा में अपृथक् व्यापक, चेतन धर्म के समान हैं। परब्रह्म अनवधिकातिशय अनन्त ज्ञान का स्रोत है! परब्रह्म-परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान, जब सांख्य, योग, वेदांत और पंचरात्र — इन चारों शास्त्रों की त्रुटियों को निकाल कर, समन्वयकारी अभिगम लेकर, ब्रह्मस्वरूप संत के साथ

अभ्यास द्वारा भगवान के स्वरूप को समझे, वह पूर्ण ज्ञानी कहलाता है—और इन चार शास्त्रों द्वारा निर्णय करें तभी परब्रह्म-परमात्मा के स्वरूप-विषयक यथार्थ निर्णय हो सकता है। (प्र. ५१)

उपासना और साधना

साधना-मार्ग में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्यज्ञानयुक्त भक्ति इन साधनचतुष्टय में से निष्पन्न होते एकांतिक धर्म की सिद्धि,—ये प्रमुख साधन हैं। उसके लिए परब्रह्म-परमात्मा के सदा साकार स्वरूप का ज्ञान, सदा साकार अक्षरब्रह्म (या उसके प्रकट विचरण करते संत-स्वरूप) के साथ अपनी आत्मा की एकता और सत्-असत् के विवेक को प्रमुख माना गया है।

अनेक प्रकार की श्रेष्ठता और परमपद जो मोक्ष है, वह भगवान की उपासना के बल से प्राप्त होता है, परन्तु उपासना के बिना कोई बात सिद्ध नहीं होती, ये भगवान स्वामिनारायण का अभिप्राय है। 'उपासना' का परंपरागत अर्थ भक्ति या ध्यान होता है। परंतु भगवान स्वामिनारायण ने 'उपासना' का अधिक गहन, विशिष्ट और आपूरित अर्थ निष्पन्न किया है— "उपासना माने यथार्थ ज्ञान, अविचल निश्चय और दृढश्रद्धा-विश्वासयुक्त एकांतिकी भक्ति। अर्थात्- (१) अक्षरब्रह्म और परब्रह्म के सदा सगुण-साकार स्वरूपों का यथार्थ ज्ञान, (२) केवल परब्रह्म-परमात्मा ही उपास्य, ध्येय, सर्वतंत्र-स्वतंत्र, सर्वाधार, धारक, रक्षक, मोक्षकारक मूर्ति है, —यों अविचल निश्चय और (३) यही परमात्मा अवश्य अपनी कृपा-करुणा से मेरा आत्यंतिक मोक्ष करेगा ऐसा दृढ श्रद्धायुक्त विश्वास,— और इन तीनों पर निर्भर और उनसे निष्पन्न होती माहात्म्य-

ज्ञानयुक्त नवधा भक्ति" यही है 'उपासना' का भगवान स्वामिनारायण द्वारा अभिप्रेत अर्थ। क्योंकि जितनी मात्रा में अपने इष्टदेव–जो परमेश्वर है – उनके प्रति निष्ठा होगी, उतना ही आत्मा-अनात्मा का विवेक प्राप्त होता है। परन्तु इष्टदेव के बल के बिना तो कोई भी साधन सिद्ध नहीं होता।

इसी संदर्भ में 'भक्ति' और 'उपासना' के बीच भेद बताते हुए श्री स्वामिनारायणजी कहते हैं: "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम् ॥ इस तरह नौ प्रकारसे भगवान की आराधना की जाती है, उसे भक्ति कहते हैं; तथा उपासना तो उसे कहा जाता है, जिसे भगवान के स्वरूप में सदैव साकार-भाव की दृढ निष्ठा हो और भजन करनेवाला यदि स्वयं ब्रह्मरूप हो जाय तो भी उस निष्ठा का लोप न हो और निराकार-भाव का प्रतिपादन करनेवाले चाहे किसी भी ग्रन्थ को सुने, तो भी भगवान के स्वरूप को सदा साकार ही समजे और शास्त्रोंमें चाहे कैसी ही बात आवे, किन्तु स्वयं भगवान के साकार स्वरूप का ही प्रतिपादन करे, परन्तु अपनी उपासना का खंडन नहीं होने देता। इस प्रकार जिसकी दृढ बुद्धि हो, उसे उपासक कहते हैं।"

अन्य वेदांत दर्शनों की तरह श्री स्वामिनारायण वेदांत में भी मुक्ति प्राप्त करने के साधना-मार्ग में योग, ध्यान और समाधि—अर्थात् अष्टांग–योग का स्वीकार किया गया है; परन्तु इस सम्बन्ध में भी अभिगम अत्यंत भिन्न, मौलिक और सर्वग्राह्य बनाने का रहा है। मुक्ति के लिए आवश्यक निर्विकल्प समाधि की सिद्धि के लिये दो उपाय हैं (१) एक तो "प्राणायाम करने से प्राण का निरोध होता है। जिसके साथ

ही साथ चित्त का भी निरोध होता है...और प्राण से जो चित्त का निरोध होता है वह तो अष्टांगयोग से होता है। वह अष्टांगयोग तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि – इन आठ अंगों से युक्त है। और उसका फल है भगवान में निर्विकल्प समाधि। तो जब ऐसी निर्विकल्प समाधि होती है तब प्राण का निरोध कर चित्त का निरोध होता है" (प्र. २५) परन्तु यह मार्ग अत्यंत कठिन है। यह मार्ग सर्वग्राह्य और सरल नहीं है। इसके लिए तो गोपालनंदस्वामी जैसे सिद्धमुनि के समान धीरज, शक्ति और प्रयास की आवश्यकता होती है। जबकि (२) दूसरा उपाय वह है जिसमें, "चित्त का निरोध कर प्राण का निरोध होता है। चित्त का यह निरोध कब होता है, तो जब सब स्थानों से वृत्तियों को तोड़ कर एक भगवान में वृत्ति जोड़ी जाती है; और भगवान में यह वृत्ति कब जुड़ती है तो जब, सब स्थानों से वासना टूटकर एक भगवान के स्वरूप की वासना होती है तब यह वृत्ति किसी के हटाये भगवान के स्वरूप से पीछे नहीं हटती (इसी प्रकार) यदि चित्त निर्वासनिक होकर, भगवानमें जुडता है तब तो वह चित्तका निरोध हो कर प्राण का निरोध होता है, इसी प्रकार भगवान के स्वरूप में जुड़कर भी चित्तका निरोध होता है। इसलिए जिस भक्त की चित्तवृत्ति भगवान के स्वरूप में जुड़ती है, उसे बिना साधे ही अष्टांगयोग सध जाता है।" (प्र. २५) यह उपाय सबसे सरल, संक्षिप्त और सर्वग्राह्य है। उसके लिये उपासना की शुद्धि, आत्मनिष्ठा (ज्ञान) और भक्ति आवश्यक हैं।

संक्षेप में, उपासना और धर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्य-ज्ञानयुक्त भक्तिवाले एकांतिक धर्म की सिद्धि से अष्टांगयोग

के लिए आवश्यक 'चित्तवृत्ति निरोध' सिद्ध होता है और निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। इसीलिए कहा है: "अष्ट आवरणयुक्त जो कोटि-कोटि ब्रह्मांड हैं जो कि अक्षर की तुलना में अणु के समान प्रतीत होते हैं—ऐसा जो पुरुषोत्तम-नारायण का धामरूप अक्षर है उस रूप में स्वयं रहते पुरुषोत्तम की उपासना जो करता है उसे उत्तम निर्विकल्प निश्चयवाला कहते हैं" (लो. ७२) और इस प्रकार, "अक्षरब्रह्म की साधर्म्यता को प्राप्त कर केवल भगवान की मूर्ति में ही निमग्न रहता हो उसे निर्विकल्प समाधिवाला कहते हैं!" (प्र. ४०) यहीं अष्टांगयोग की सिद्धि के क्रम को उलटकर उसे ही "चित्त-वृत्तिनिरोध द्वारा निर्विकल्प समाधि" सिद्ध करने का ध्येय मुमुक्षुमात्र के लिये सरल और सहजप्राप्य बनाया है। यह स्वामिनारायणीय साधनामार्ग की एक मौलिक विलक्षणता है।

भक्ति, शरणागति और मुक्ति

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्यज्ञानयुक्त, भक्ति-इन चारों का विकास साधक के जीवन में आवश्यक है। ऐसी एकांतिकी भक्ति ही मोक्ष अर्थात् परमपद का हेतु है। एकांतिकी भक्ति में पतिव्रता स्त्री के समान अनन्य निष्ठा और परम निरभिमानता का द्योतक-दासत्व अन्तर्भूत है। एकांतिकी भक्ति में-परमात्मा के प्रकट स्वरूप की उपासना-भक्ति का निर्देश है।

जो मुमुक्षुजन प्रकट ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु से ज्ञान प्राप्ति और अध्यात्म-साधना करते हैं, वे ही मोक्ष के मार्ग पर पूरी तरह आगे बढ़कर परमपद प्राप्त कर सकते है। क्योंकि जो मुमुक्षुजन तीन गुण, तीन अवस्था और तीन देह से अपनी आत्मा को विलक्षण जानकर, अक्षरब्रह्म के साकार स्वरूप के साथ अपनी आत्मा की एकता को प्राप्त कर परब्रह्म के सदा

साकार स्वरूप की भक्ति करता है वही जीवन-मुक्त होता है, और वही परमपद जो मोक्ष है उसे प्राप्त करता है। और वही परमधाम में (अक्षर धाम में) परब्रह्म परमात्मा की नित्य सेवा में स्थान प्राप्त करता है - (शिक्षा. ११६, १२१ तथा लो. ७ और म. ३०)

भगवान कृपासाध्य है। भक्त का अविरत प्रयत्न और अतिदृढ़ भक्ति देख कर स्वयं ही उसके अधीन हो जाता है। (प्र. ६१) उस पर अपना कृपा-प्रसाद बरसाता है और उस मुमुक्षु को दोषों-विकारों, अज्ञान और कारण शरीर की वासनाओं को अपने संकल्प मात्र से दूर कर उसे मोक्ष प्रदान करता है "इसलिए अति सच्चे भाव से जो सत्संग करता है तो उसमें किसी प्रकार का दोष हृदय में नहीं रहता और देह होते हुये भी ब्रह्मरूप हो जाता है।" (सा-९) और इस प्रकार जो भगवान के चरणारविन्द में अपने मन को रखता हैं वह मरने के बाद ही भगवान के धाम में जायेगा ऐसा नहीं है। वह तो देह के होते हुये भी भगवान के धाम को प्राप्त हो रहा है।" (ग. अं-७) इसलिए "जो अपनी जीवात्मा को स्थूल-सूक्ष्म और कारण-इन तीन शरीरों से पृथक् मानता है और उसमें अखंड (सदैव) भगवान विराजमान हैं यों समझता है तो उससे भगवान अथवा भगवान का धाम तो अणुमात्र भी दूर नहीं होता। (सा-१०) यह है जीवनमुक्ति का आदर्श। यह है जीवनमुक्ति की स्थिति; यह है अविद्या और कारण-शरीर-वासनामय लिंगदेह से मुक्ति। जीवन्मुक्ति याने अविद्या और जन्ममरण के चक्र से निवृत्ति और भगवान के सान्निध्य और सुख की अहर्निश अनुभूति। ऐसा जीवन्मुक्त, देह-त्याग के पश्चात् भगवान के धाम में जाता है तब उसे भगवान की इच्छा-कृपा से ब्रह्मरूप देह (दिव्य-तेजोमय-परमात्मा-समाकार-

भागवतीतनु) प्राप्त होता है (प्र. १, म–६६) भगवान के परम अक्षरधाम में परब्रह्म भगवान, अक्षरब्रह्म अक्षरमुक्त और नित्यपार्षदों का आकार भगवान के समान ही है, सत्य है, दिव्य है, अतिशय प्रकाशयुक्त है, पुरुष के समान द्विभुज है और सच्चिदानंदरूप है फिर भी मुक्त और पार्षद पुरुष हैं, जबकि भगवान, पुरुषोत्तम है, और वह सबसे श्रेष्ठ है और सबका उपास्य है, और सबका स्वामी है। (ग. अं ३७, ३८) धाम में अक्षर ब्रह्म और सभी मुक्त, दास्यभावसे परब्रह्म की नित्य–निरन्तर ध्यान-भक्ति में रत रहते हैं। स्वामी-सेवकभाव की भक्ति में दासत्व और निरभिमानिता की पराकाष्ठा है। अहंकार का पूर्ण निरसन है। 'स्व' को भूल कर 'पर' मय होने का चरम लक्ष्य है। इसलिए ब्रह्मरूप हो परब्रह्म की भक्ति करना, उसके चरणों की सेवा करना – इसे ही उपासना की सिद्धि और इसे ही मुक्ति माना है। (शिक्षापत्री—१२१)

मुक्ति, भक्ति से ही है। यहां 'भक्ति' शब्द से 'एकांतिकी भक्ति' – यह अर्थ लेना है क्योंकि "आत्मनिष्ठा (ज्ञान) वैराग्य और धर्म तो भगवान की भक्ति के सहायकरूप उपकरण हैं। परंतु भगवान की भक्ति के बिना–केवल वैराग्य, आत्मनिष्ठा (ज्ञान) तथा धर्म – जीव को माया से तारने के साधन नहीं हैं–और यदि धर्म, आत्मनिष्ठा (ज्ञान) और वैराग्य अतिशय न हो और केवल भगवान की भक्ति हो तो भी उस जीव का कल्याण होता है और वह माया से तर जाता है। इसलिए धर्मादि की तुलना में भक्ति विशिष्ट है, फिर भी धर्मादि अंगों की सहायता हो तो उससे भक्ति में कोई विघ्न नहीं आता...इसलिए धर्मादि अंगो सहित (एकांतिकी) भक्ति करनी चाहिए।" (म. ३२) पुनः धर्म, ज्ञान, वैराग्य और महात्म्य-

ज्ञानयुक्त भक्ति के साधनचतुष्टययुक्त एकांतिक धर्म (एकांतिकी भक्ति) का उपदेश कर भगवान स्वामिनारायण ने भगवद्‌गीता में उपदिष्ट चारों मार्गों का प्रतिपादन किया है । नीति, सदाचार पर आधारित नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, विशेष धर्म–स्वधर्म इत्यादि धर्मों द्वारा कर्म–मार्ग का प्रतिपादन किया है । आत्मनिष्ठा याने पांच भेद और ब्रह्म–परब्रह्म के सदासाकार स्वरूप के यथार्थ ज्ञान द्वारा ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन किया है । सद्–असद् के ज्ञान में से परिणमित होते वैराग्य का प्रतिपादन कर त्याग और अनासक्ति की भावना का पोषण किया है । जिससे कर्म–बन्धन नहीं होता । फल की आशा प्रधान नहीं हो जाती और सभी काम परमेश्वर की आज्ञा मानकर परमेश्वर को चरम लक्ष्य में रखकर होते हैं । जिससे प्रवृत्ति करने पर भी निवृत्ति और नैष्कर्म्य की सिद्धि होती है । इस प्रकार वैराग्य द्वारा अनासक्ति मार्ग का और योगमार्ग का प्रतिपादन किया गया है । जबकि माहात्म्यज्ञानयुक्त भक्ति से ब्रह्मरूप हो, परमेश्वर में प्रीति हो जाती है । सभी वृत्तियों, प्रवृत्तियों और पदार्थों को परमेश्वर के चरणों में धर देने से आत्मनिवेदक होते हैं, उसकी सभी क्रियाएँ निर्गुण होती हैं । परमेश्वर में लीनता (स्नेहैक्य) होती है । परमेश्वर वरेण्य होता है । इस प्रकार भक्ति मार्ग का प्रतिपादन भी किया है ।

इस संप्रदाय में शरणागति की महत्ता है परंतु शरणागति ग्रहण करने के पश्चात् स्वयं कुछ नहीं करना होता और सब कुछ परमात्मा कर लेंगे – यह स्वीकार नहीं किया गया है । सद्‌गुरु के माध्यम से परमात्मा की शरणागति स्वीकार करने के बाद, संप्रदाय में सम्मिलित हो, अध्यात्म मार्ग ग्रहण करनेवाले मुमुक्षुजनों की सभी पाप, भय, दोष, त्रास इत्यादि से रक्षा परमात्मा करता है परंतु शरणागत की परमेश्वर की रुचि, रहस्य,

अभिप्राय और आज्ञानुसार कर्म, परमात्मा की मोक्ष–दायिनी कृपा को प्राप्त करने के लिए करने ही पड़ते हैं। ऐसे शरणागत पर परमात्मा वरेण्य होकर, अपनी कृपा–अनुग्रह द्वारा मुक्ति प्रदान करता हैं, अपने धाम में, अपनी सेवा में नित्य आवास प्रदान करता है। यह सत्य है कि परमात्मा यदि स्वयं ही अतिकृपा–करुणा से प्रसन्न हो किसी प्रपन्न को सीधे ही (साधना मार्ग से गुजरे विना भी) परमपद प्रदान करना चाहे तो प्रदान कर सकता है, और प्रदान करता भी है। यह बात परमात्मा की कृपा–करुणा का आधिक्य सूचित करती है, न कि प्रपन्न का सीधे ही परमपद पाने का अधिकार। अपने आश्रित भक्तजनों को अंतकाल में स्वधाम ले जाने के लिए भगवान स्वयं ही दिव्य देह में मुक्तों–पार्षदों के साथ आते हैं। ऐसा है परमात्मा का वरदान। यह हकीकत, संप्रदाय के हरिभक्तों के अनुभव में दृष्टिगत और सिद्ध हुई पाई गई है। इसलिए श्रद्धा और आस्था से वे मानते हैं कि सत्संगी की कभी भी अवगति नहीं होती। भगवान अपने भक्तों की रक्षा में सन्नद्ध रहते ही हैं।

गुरु–शिष्य : लक्षण और पात्रता

'श्रीहरिदिग्विजय' ग्रंथ में नित्यानंद स्वामी लिखते हैं: "गुरु का असामान्य लक्षण–ब्रह्मनिष्ठा है। और शिष्य का असामान्य लक्षण मुमुक्षुता है।" दैवी संपदा से युक्त मुमुक्षु-जन ही धार्मिक–आध्यात्मिक शिक्षा–सिद्धि को पात्र हैं (शिक्षा: २१०) क्योंकि कोई "यदि श्रद्धावान पुरुष हो और सच्चे संत की संगति मिले, उस संत के वचन में श्रद्धायुक्त हो जाये तो इसके हृदय में स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य, विवेक, भक्ति आदि जो कल्याणकारी गुण हैं वे सभी प्रकट हो आते हैं। और

कामक्रोधादि जो विकार हैं वे भस्म हो जाते हैं।" (सा. १८) तथा "यदि श्रोता में उत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हो तथा शुभ देशादिक प्राप्त होता है तथा उत्कृष्ट ज्ञानवान वक्ता मिले तो सर्वोत्कृष्ट (भगवान का) निश्चय होता है।" (लो. १२)

इसके समक्ष गुरु को श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए, "शाब्दे परे च निष्णातः" अर्थात् शास्त्र के सच्चे अर्थ के जानकार,उच्च आध्यात्मिक स्थितिवाले गुरु से ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। क्योंकि "शास्त्रों में जो शब्द हैं वे एकांतिक भक्त के अतिरिक्त अन्य की समझ में नहीं आते।" (प्र. ६६) ऐसे गुरु को पहचानें कैसे? यह बताते हुए भगवान स्वामिनारायण कहते हैं: "इंद्रियों, अंतःकरण आदि जो माया के गुण है उनकी क्रियाओ को स्वयं दबाकर आचरण करे परंतु उनकी क्रियाओं से स्वयं दबे नहीं, और भगवान सम्बन्धी क्रियाओं को ही करे और पंचवर्तमान में दृढ़ रहे और स्वयं को ब्रह्मरूप माने और पुरुषोत्तम भगवान की उपासना करे–ऐसे जो संत (सद्गुरु) होते हैं उन्हें मनुष्य–सा न जानो, और देवता–सा भी न जानो क्योंकि ऐसे कार्य देवता–मनुष्य से नहीं हो पाते। और ऐसे संत मनुष्य हैं फिर भी भगवान की तरह सेवा करना योग्य हैं। इसलिए जिन्हें कल्याण की आवश्यकता है ऐसे जो (मुमुक्षु) पुरुष हैं उन्हें ऐसे सन्तों की सेवा करनी चाहिए।" (ग. अं. २६) ऐसे "सत्पुरुष में दृढ़ प्रीति ही आत्मदर्शन का साधन है...और परमेश्वर का साक्षात् दर्शन होने का भी यही साधन है।" (वर. ११)

सांप्रदायिक मान्यता परंपरा

इस संप्रदाय के आद्य संस्थापक श्री सहजानंद स्वामी (भगवान स्वामिनारायण) को परम इष्टदेव के रूप में–सर्वो-

वतारी पूर्ण पुरुषोत्तम (परब्रह्म) रूप में; और उनके परमहंस शिष्यों में से प्रमुख शिष्य परम आदर्श भक्तराज गुणातीतानंद स्वामी को अनादि अक्षरब्रह्म के मूर्तिमंत स्वरूप के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए, इस संप्रदाय में भी अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह भक्त सहित भगवान की भक्ति का उपदेश दिया गया है। इसीसे यह संप्रदाय 'स्वामिनारायण संप्रदाय', 'अक्षरपुरुषोत्तम संप्रदाय' तथा उसका तत्त्वज्ञान 'ब्रह्म-परब्रह्मवाद' के रूप में जाना जाता है। हाँ, यह सच है कि, इस संप्रदाय की उपासना ब्रह्मरूप होकर सदासाकार परब्रह्म की सेवाभक्ति करने का उपदेश देती है। क्योंकि जो मुमुक्षु गुरु की संगति में आदर्श भक्त अक्षरब्रह्म तुल्य होता है, वही मोक्ष पाकर परमधाम में परब्रह्म-पुरुषोत्तम की नित्य-सेवा में स्थान पाता है। यों "अक्षरधाम में एक पुरुषोत्तम के युगल चरणारविन्दों की ही उपासना है।" (वेदरस-१५०)

परब्रह्म स्वामिनारायण भगवान को इस पृथ्वी से अन्तर्धान होने के पश्चात् उन्होंने अपनी ज्योति का प्रकटन अपने शिष्य अक्षरब्रह्म के अवतार गुणातीतानंदजी में निवसन कर आपूरित किया। उनके बाद उत्तरोत्तर परम एकांतिक ब्रह्मस्वरूप संत (सद्गुरु) द्वारा उनमें अखंड निवास कर, मुमुक्षुओं को मोक्ष प्रदान करने का अपना कल्याणकारी कार्य भगवानने जारी रखा है (प्र. ५४, पं. ७)* और "जैसी परोक्ष देवता में जीव को

* अक्षर मूर्ति गुणातीतानंद स्वामीजी के बाद क्रमशः ब्रह्मस्वरूप प्रागजीभक्त, ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज (जिन्होंने अक्षरपुरुषोत्तम की युगल उपासना के स्वरूपों की मूर्तिमंत प्रतिष्ठा की एवं बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था की स्थापना की) तथा ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराजने इस संत परम्पराको विभूषित की है।

प्रतीति है वैसी जो प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि में हो तो जितने अर्थ प्राप्त करने के लिये कहा गया है उतने सभी अर्थ प्राप्त होते हैं। और ऐसा संत–समागम प्राप्त हो गया तब तो देह त्याग कर जिसे प्राप्त करना था वह तो देह के होते हुये भी प्राप्त हो चुका है इसलिये जिसे परमपद कहें, मोक्ष कहें, उसे देह के होते हुये ही प्राप्त कर लिया है।" (ग. अं. २) इसलिये ऐसे परम एकांतिक ब्रह्मस्वरूप संत की शरण लेकर, उन्हें गुरु बनाकर, उनकी सेवा–समागम द्वारा मुमुक्षुजन ब्रह्मरूप होकर, परब्रह्म की भक्ति के अधिकारी बन सकते हैं और देहयुक्त ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है। वर्तमानकाल में इस संप्रदाय की की गुरुपरंपरा में, परब्रह्म के अखंड धारक, परम एकांतिक प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुख स्वामी श्री नारायणस्वरूपदासजी विद्यमान हैं। उनके द्वारा इस संप्रदाय के विकास, उत्कर्ष तथा मुमुक्षुओं की आध्यात्मिक उन्नति का कार्य निरन्तर किया जा रहा है।

धर्माचार और विशाल दृष्टिबिन्दु

इस संप्रदाय में आचार शुद्धि, चरित्र–शुद्धि तथा आध्यात्मिक जीवन–शुद्धि पर अधिक जोर दिया गया है। सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य को मानव–धर्म की आधारशिला माना गया है। मद्यनिषेध, मांसभक्षणनिषेध, स्तेन कर्म (चोरी) निषेध, व्यभिचारनिषेध और स्वधर्मपालन इन पांच व्रतों को सभी मुमुक्षुओं (आश्रितों) के लिये धार्मिक जीवन को आवश्यक अंगभूत व्रत माना गया है। तदुपरांत विश्वासघात, ताडना, हिंसा, कुत्सा, दोपारोपण, परस्त्री का संग, अभक्ष्य–भक्षण, अनधिकारी विमुख के मुख से कथा–श्रवण, निंदा, आत्मश्लाघा, अश्लील भापा–प्रयोग, आत्महत्या, कुसंग, इत्यादि का त्याग करने का सुझाव दिया गया है। पूर्तकर्म, दान, विद्वान, गुरु, देव, ब्राह्मण,

साधु, माता-पिता, गुरुजन, पतिव्रता, अतिथि, देवमंदिर, शास्त्र, धर्मकार्य, विद्याभ्यास, विद्यादान, आदि के प्रति आदरभाव रखकर, अपना कर्तव्य-पालन करना आवश्यक माना है। स्त्रियों और पुरुषों को अपने सहजीवन में विवेक, मर्यादा और कर्तव्य से कभी चूकना नहीं चाहिए। ये नियम संप्रदाय के आश्रित सभी जनों पर लागू होते हैं। परंतु संसार का त्याग कर मानव-सेवा, धर्मोपदेश और आत्मसाधना का उच्चतर मार्ग ग्रहण करनेवाले साधु-ब्रह्मचारी-पार्षदों के लिये पांच विशेष वर्तमान का विधान है। ये पंचवर्तमान हैं—निःस्नेह, निःस्वाद, निर्लोभ, निष्काम और निर्मान। इन पांचों विशेष नियमों को पालकर, उनकी सिद्धि करना साधु-संतों के लिये अत्यंत आवश्यक है। इसीसे त्यागीवर्ग (साधु-पार्षद) के लिये द्रव्यसंपत्ति का सर्वथा त्याग, अष्ट प्रकार से स्त्री-प्रसंग का त्याग, निःस्वादिता के लिये सब कुछ खाद्यपदार्थ एक-साथ मिलाकर, एक अंजलि जल डाल कर लकड़ी के पात्र में भोजन करना, केवल ग्यारह वस्त्रों और धर्मग्रंथों के सिवाय सभी वस्तुओं का अपरिग्रह, मान त्याग कर निम्न से निम्न सेवा करना, अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों और स्थानों का संपर्क छोड़ देना, ग्राम्यवार्ताओं और जागतिक मामलों में से वृत्ति पीछे खींच लेना-ऐसी विशेष आज्ञाएँ दी गई हैं।

तदुपरांत नैतिक जीवन के लिये आवश्यक, धार्मिक जीवन के लिये आवश्यक और आध्यात्मिक जीवन के लिये आवश्यक नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और स्वधर्म का प्रत्येक को पालन करना ही चाहिए-ऐसा आग्रह और वैसी ही जागरूकता इस संप्रदाय में दृष्टिगोचर होती है। संक्षेप में, विचार, उच्चार, आचार और हृदय की पवित्रता-धार्मिक, आध्यात्मिक जीवन का प्रथम सोपान है। इसीलिये उन्होंने आचार, व्यवहार और अध्यात्म-जीवन की परिशुद्धि का उपदेश शिक्षापत्री में दिया है। उसके

पालन से सत्त्वशुद्धि होती है। अधिकारी गुण प्राप्त होते हैं। अध्यात्मदर्शन के लिए पात्रता विकसित होती है। ऐसे सदाचारयुक्त धर्म का पालन करनेवाले सभी शरणागत भक्तों के योगक्षेम का वहन भगवान पुरुषोत्तम करते हैं। उनके अन्न-वस्त्र की ज़िम्मेदारी भगवान उठाते हैं। उनकी शूली का दुःख भगवान कांटे से मिटाते हैं।

मन का तनिक भी विश्वास नहीं करना चाहिए। उसे सदैव परमेश्वरोन्मुख प्रवृत्तियों में जोड़े रखने के लिए पंचरात्र आगमों और भागवतादि पुराणों द्वारा प्रतिपादित भक्ति की परिपुष्टिकारक प्रवृत्तियों को निर्गुण और आवश्यक गिना गया है। संगीत और कीर्तन को भक्ति की अभिव्यक्ति और पूर्ति करनेवाले तथा परमेश्वर की प्रसन्नता में सहायता करनेवाले उपकरण के रूपमें विकसित किया गया है। चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य और मंदिर निर्माण की प्रवृत्तियाँ भी इसी आशय से अपनाई गई हैं। परमेश्वर की धातु-पाषाण की प्रतिष्ठित प्रतिमायें साक्षात् परमेश्वर ही प्रकट स्वरूप हैं—ऐसी मान्यता के कारण उनके वस्त्र, आभूषण, पुष्पहार, नैवेद्य, आरती, पूजा, प्रार्थना, स्तुति, दंडवत् प्रणाम इत्यादि सेवा-परिचर्यायुक्त पूजा-विधि का उन्होंने निर्देश दिया। प्रभु की प्रसन्नता के लिए एकादशी उपवास, तप, देहदमन इत्यादि व्रत; तथा हींडोला, फूलदोल, होली, जलयात्रा, रथयात्रा, अन्नकूट, दीपावली इत्यादि उत्सव मनाना तथा महाशिवरात्रि, गणेशचतुर्थी, हनुमान-जयंती, रामनवमी-हरिजयंती, जन्माष्टमी इत्यादि जन्मोत्सव मनाना, वगैरह सेवा-विधियों को प्रभु-प्रीति के साधन रूप में तथा प्रभु परायण भक्तिविधाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। सद्गुरु द्वारा विधिपूर्वक परमेश्वर की शरण ग्रहण कर, प्रभुमंत्र पाकर, वर्तमान धारण कर संप्रदाय में सम्मिलित होने की विधि

सभी वैष्णवसंप्रदायों की तरह यहां भी है। चारों वर्णों के, हिन्दू-अहिन्दू, ज्ञाति-जाति, वर्ग या देश का भेदभाव रखे बिना सभी मुमुक्षुओंको इस संप्रदाय में आश्रित के रूप में स्वीकार किया जाता है। उन्हें सांप्रदायिक चिह्न जैसे कि तिलक, कंठी-धारण और ज्ञानभक्ति का पूर्ण अधिकार मिलता है। पूजा, माला, स्तोत्र, ध्यान, प्रदक्षिणा और शास्त्रपठन को नित्य नियम माना गया है। श्रद्धा और प्रेम से दैनिक पंचकाल-मानसीपूजा, आरती और उपदेश-कथामृत को प्रभु-परायण करनेवाली प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। परमेश्वर को लक्ष्य में रखकर, उसके लिए सेवा के रूप में देव मंदिर की सेवा, सफाई, फुलवारी-बगीचा करना, भोजन, पकवान, नैवेद्य तैयार करना, भक्तजनों का आदर सत्कार करना, इत्यादि को भक्तिरूप-क्रिया मानी है।

समन्वयकारी धर्म दर्शन

श्री सहजानंद स्वामी ने अपने धर्मदर्शन में 'जो अच्छा सो मेरा' के सिद्धांत को सम्मुख रखकर पूर्वाचार्यों में से शुभ-तत्त्वों को चुनकर एक समन्वयात्मक धर्म दर्शन प्रदान किया। उन्होंने श्रीमद् रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत को अपनाया। उसमें से मुख्यतः परमात्मा का परत्व, सदा साकारता, सगुणता, शरीर-शरीरी का नित्य अपृथक् संबन्ध, धर्मभूतज्ञान, जैसे कई सिद्धांतों को स्वीकार किया है। श्रीमद् शंकराचार्य प्रणीत विवेक, वैराग्य, षटसंपत् और मुमुक्षुत्व इस साधन चतुष्टय को अपने 'वेदरस' (वेद रहस्य) ग्रंथ में स्थान प्रदान किया है। मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता और जीवन्मुक्ति और के विचार-तत्त्व को अपनाया है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित, व्यवस्थित गुरुपरंपरा की प्रणाली को कुछ परिवर्तनों के साथ अपने संप्रदाय में स्थापित किया है। विविध

वैष्णवाचार्यों और कई शैव संम्प्रदायों के समान भक्ति को ही मोक्ष प्राप्त के साधन के रूप में माना है और मोक्ष परमेश्वर की कृपा–अनुग्रह से ही प्राप्त होता है — यह माना है। श्रीमद् रामानुजाचार्य और रामानंदाचार्य द्वारा उपदिष्ट विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, इत्यादि साधनसप्तक तथा शरणागत भक्त द्वारा विकसित की जाती पांच प्रकार की रुचि (जैसे कि भगवान को प्रिय वस्तुओं का विचार, अप्रिय वस्तुओं का त्याग, भगवान ही रक्षक हैं ऐसा दृढ़ विश्वास, अवलंबन, आत्मसमर्पण और कार्पण्य अर्थात् गर्व त्याग कर निरभिमान हो प्रभुके अधीन रहना) इत्यादि को उनके वचनामृतों में किसी–न–किसी रूप में समाविष्ट कर लिया है। उन्होंने जिस प्रकार कहा है वैसी ही परमेश्वर में तैलधारावृत्ति रखने की बात श्री सहजानंद स्वामी ने स्वीकार की है। रामानुज, रामानंद, मध्व और शैव संप्रदाय में कहा गया है वैसी दास्यभक्ति का आदर्श स्वीकार किया है। मध्व और वल्लभ द्वारा सुझाये माहात्मज्ञान युक्त भक्ति का सिद्धान्त अपनाया है। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, रामानंद, वल्लभ, चैतन्य, हितहरिवंश और पाशुपत शैव सिद्धान्त में कहा गया है वैसी भक्त सह भगवान की उपासना का सिद्धांत उन्हें मान्य है—यों स्वीकार किया गया है। निम्बार्क और वल्लभ द्वारा प्रदत्त संगीत और गानविद्या को भगवानकी प्रसन्नता के लिए उन्होंने भी स्वीकार किया है। चैतन्य द्वारा प्रवर्तित हरिकीर्तनभक्ति और नामस्मरण की महिमाको उसके केवल शुद्ध स्वरूप में अपनाया गया है। प्रपत्ति का स्थान, मध्व के शरणागति के सिद्धांत से मिलता–जुलता है। वल्लभ संप्रदाय द्वारा वर्णित आत्मनिवेदन, पूजा–सेवारीति और मानसीपूजाविधि को स्वीकार किया गया है। वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी द्वारा किये गये व्रतोत्सवों के निर्णय

तथा सेवा-विधियां, श्री स्वामिनारायण ने स्वीकार की हैं। सभी वैष्णव, शैव, स्मार्त और शाक्त संप्रदायों द्वारा स्थापित गुरु के स्थान और गुरु-महिमा को उन्होंने स्वीकार किया, परिशुद्ध किया और अपने नये मौलिक स्वरूप में प्रवर्तित किया। वैष्णव और शैव संप्रदायों द्वारा उपदिष्ट, दृढ श्रद्धा, अवलंबन और निष्ठा के तत्त्व को उन्होंने स्वीकार किया है। यों, स्वामिनारायणीय धर्मदर्शन में सभी हिन्दू संप्रदायों के शुभ तत्त्वों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

उसी प्रकार इस संप्रदाय में विश्व के प्रत्येक धर्म के शुभ तत्त्वों का समावेश हुआ है। जैन धर्म की अहिंसा, तप, देहदमन और आचारशुद्धि; बौद्धधर्म की दया, संयम, सादगी, तृष्णासंकोचन और मध्यमार्ग की स्वीकृति; सिक्ख धर्म द्वारा कथित सुहृद्भाव, अपने धर्मबंधुओं के लिये स्वार्पण की भावना, कीर्तन भक्ति, धर्मग्रंथ की महिमा तथा श्रम और पुरुषार्थ की आवश्यकता; यहूदी धर्म प्रणीत नम्रता, संतोष, समूह-प्रार्थना का महत्त्व; ईशाई धर्म द्वारा उपदिष्ट मानव-प्रेम, जनसेवा, सहिष्णुता और बंधुत्व की भावना, इस्लाम का यकीन, जकात, नमाज, एकता और मेल, पारसी धर्म की पवित्रता, दैवी-आसुरी भेद और सगुण-साकार ईश्वर के षड्गुण; ताओ धर्म कथित परमतत्त्व की महिमा, सद्-असद्-विवेक, निर-भिमानता, उदारता और जगतमार्ग से निवृत्ति, शिन्तो धर्म की आंतरिक और बाह्य शुचि; कन्फूशियस धर्म की समाजोद्धार की भावना और हिन्दू धर्म प्रणीत वेद, गुरु, आचार्य, धर्मग्रंथ, सहिष्णुता, मतांतरक्षमा, हृदय की विशालता, नीति, भक्ति, ज्ञान, अनासक्ति, भगवान के सदा साकार स्वरूप की उपासना, इत्यादि की आवश्यकता—इन सभी शुभ तत्त्वों का सुभग समन्वय

श्री सहजानंदस्वामी प्रणीत स्वामिनारायण संप्रदाय में है। यह संप्रदाय—व्यक्ति और समाज की नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का हिमायती है।

उपसंहार

मोनियर विलियम्स के शब्दों में कहें तो—"स्वामिनारायण संप्रदाय शुद्ध वैष्णव धर्म का आदर्श स्वरूप है।" यह एक सनातन हिन्दू वैदिक संप्रदाय है। इसलिए भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ—ये पांच यज्ञ तथा सोलह संस्कार इन्हें मान्य हैं। वर्णाश्रमधर्म उन्हें मान्य है परंतु उसका गर्व, अभिमान अथवा उसमें से उत्पन्न होती घृणा उन्हें मान्य नहीं है। उसके विपरीत उन्होंने तो ईसाई, पारसी, मुस्लिम, इत्यादि अहिन्दुओं को अपने हिन्दू-वैष्णव संप्रदाय में उतना ही भक्ति-संबन्धी अधिकार प्रदान कर, अपनाया है और सम्मिलित किया है। श्रुतिस्मृतियों द्वारा प्रतिपादित धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि को जीवन में आवश्यक माना है। इसीलिए इन चारों की सिद्धि सुगमता से हो सकने के लिए उन्होंने 'शिक्षापत्री' प्रदान की है। भारतीय धर्मदर्शन में प्रचलित कर्म और पुनर्जन्म को परंपरागत मान्यताओं को उन्होंने स्वीकार किया है। अवतारवाद (दश अवतार तथा भागवत कथित चौवीस अवतार) उन्हें मान्य-स्वीकार्य है। वैष्णव-सम्प्रदाय होते हुये भी हिन्दू धर्म की विशालता की भावना का पोपक—पंचायतन का अर्थात् विष्णु, शिव, पार्वती, गणपति और सूर्य-इन पांचों का प्रतिपादन किया है। यही नहीं, स्वामिनारायण ने स्वयं बंधवाये मंदिरों में सूर्यनारायण, सिद्धेश्वर महादेव, लक्ष्मी-नारायण, राधाकृष्ण, नरनारायण, रेवती-बलराम, हनुमानजी तथा गणपति के स्वरूपों को प्रतिष्ठित किया है। ऋषभदेव, दत्तात्रय,

सीताराम और कार्तिकेय की महिमापूर्वक प्रशंसा की है। मार्गमें शिवालयादिक देवमंदिर आयें तो आदरपूर्वक उस देवता को नमस्कार करने का आदेश अपने आश्रितजनों को दिया है। सभी तीर्थों, आचार्यों और देवों की महिमा को उन्होंने स्वीकार किया है, उसमें अभिवृद्धि की है। किसी गुरु, देव, आचार्य या तीर्थ का उन्होंने खंडन या निन्दा नहीं की है। यह संप्रदाय 'उद्धवी वैष्णव संप्रदाय', 'शुद्ध वैष्णव संप्रदाय' है। उसका तत्त्व सेश्वरवादी है। पंचतत्त्वभेद स्वीकृत 'ब्रह्म-परब्रह्मवाद' है जिसे 'नव्य-विशिष्टाद्वैत' के रूप में जाना जा सकता है। फ्रांज़वा मेलिसन के शब्दों में कहें तो—"भारतीय हिन्दू-परंपरा को जारी रखने के बावजूद स्वामिनारायण संप्रदाय आधुनिक युग में नवीनतम हिन्दू-धर्म का सुन्दर उदाहरण है।"

जिन वृत्तियों और प्रवृत्तियों का केन्द्र परमेश्वर न हो, वे वृथा हैं, जिन प्रवृत्तियों और प्राप्तियों का फल परमपद अर्थात् परमेश्वर के चरणकमल की सेवा न हो वे भी वृथा हैं—ऐसा यह जो स्वामिनारायणीय दर्शन है वह केवल काल्पनिक विचार-धारा या नूतन बौद्धिकवाद या परंपरा को पकड़े रखनेवाला पंथ नहीं है। वह तो अपरोक्ष अनुभूति पर आधारित प्रत्यक्ष परमात्मा की परावाणी में से निष्पन्न हुआ और मुमुक्षुओं द्वारा सफलतापूर्वक आध्यात्मिक जीवन में आजमाकर देखा गया, अचूक जीवनपथ है-जीवनदर्शन है। उसमें समग्र विश्व को स्वीकार्य हो, ग्राह्य हो, गूढ़ अंश भरे पड़े हैं। आवश्यकता है केवल श्रद्धा, धीरज, सावधानी और सन्निष्ठ प्रयास की; आजमाकर देखने की। उसमें खोना कुछ नहीं है, पाना बहुत कुछ है। उसमें परमपद की अपरिमित प्राप्ति है। प्रभु-पादसेवा, परमसुख और दिव्यानंद की चिरन्तन अनुभूति है।

ભગવાન સ્વામિનારાયણ દ્વિશતાબ્દી પ્રકાશન

સ્વામિનારાયણ સાહિત્ય ગ્રંથમાળા : (ગુજરાતી)

ભગવાન શ્રી સ્વામિનારાયણ લે: હર્ષદરાય દવે — રૂ. ૬૦–૦૦

સ્વામિનારાયણ કથા મંગલ લે. રમણલાલ સોની — રૂ. ૧૨–૦૦

દેવાનંદ પદાવલિ સં. ડૉ. જયન્ત પાઠક — રૂ. ૩-૦૦

બ્રહ્માનંદ પદાવલિ સં. ડૉ. ઈશ્વરલાલ ર. દવે — રૂ. ૪-૦૦

આધાર વરસે અનરાધાર લે. નાનુભાઈ દવે — રૂ. ૪·૦૦

ધન્ય થઈ વસુંધરા (પ્રેરક ચરિત્રો) „ — રૂ. ૩–૦૦

„ — રૂ. ૧૨–૦૦

અંતર નિરખે નિરંતર (પ્રેરક ચરિત્રો) „ — રૂ. ૩–૫૦

હરિચરણની સુર સરિતાઓ „ „ — રૂ. ૩·૫૦

અમરવેલનાં પાન (પ્રેરક ચરિત્રો) „ — રૂ. ૩–૫૦

કથીરનાં કુંદન કર્યાં (પ્રેરક ચરિત્રો) „ — રૂ. ૩–૦૦

સ્વામિનારાયણ શાથી ? „ — રૂ. ૪–૦૦

સરોવર પરમહંસોનું (પ્રેરક ચરિત્રો) „ — રૂ. ૫–૦૦

પ્રેમસખી પદાવલિ લે. અનંતરાય રાવળ — રૂ. ૫–૦૦

પુરુષોત્તમપ્રકાશ યોગીજી મહારાજ — રૂ. ૪–૫૦

ઊડતા રંગ (પ્રેરકચરિત્રો) લે. સાધુ અક્ષરજીવનદાસ — રૂ. ૪–૫૦

સ્વામિનારાયણ વચનામૃત પરિચયમાળા (કિં. ૦૦–૭૫)

વચનામૃત વિશિષ્ટતા, ધર્મ, કલ્યાણ, ભક્તિ, સાંખ્ય, એકાંતિક ધર્મ, એકાંતિક ધર્મના ધારક સત્પુરુષ, સ્વામિનારાયણ વેદાંત પરિચય

સ્વામિનારાયણ પરિચય પુસ્તક માળા

ભગવાન સ્વામિનારાયણ, વચનામૃત બિન્દુ, ભગવાન સ્વામિનારાયણ–સંગીત કલાના પોષક, સ્વામિનારાયણીય સંસ્કૃત સાહિત્ય, સંપ્રદાયનો વિકાસ અને ગુરુપરંપરા, ભગવાન સ્વામિનારાયણ–સમાજ સુધારક, મુક્તાનંદની અક્ષર આરાધના, દેવાનંદની અક્ષર આરાધના, દલપતરામ અને સ્વામિનારાયણ, સમાજ ઘડતરમાં સંપ્રદાયનું પ્રદાન, વેદરસની વિભાવના, સ્વામિનારાયણ સંપ્રદાય અને ભારતીય સંપ્રદાયો. આદિ ૨૫ પુસ્તિકા દરેકની કિ. ૦૦–૭૫

ENGLISH PUBLICATIONS

LIFE AND PHILOSOPHY OF SHREE SWAMINARAYAN

Published by : George Allen & Unwin Ltd. (U. K.) 30-00

Shree Swaminarayan's VACHANAMRITAM

Translated by : H. T. Dave

Edited by Leslie Shepard 60-00

Published by : Bharatiya Vidya Bhavan.

SWAMINARAYAN BLISS

Quarterly Magazine :

Two Year Subscription : India-Rs. 10.

U. K., U. S. A., Africa, Rs. 50. (BY AIR MAIL)

SHRI SWAMINARAYAN :

By : M. C. Parekh 30-00

Published by : Bharatiya Vidy Bhavan

GENERAL PUBLICATIONS

Shikshapatri (with Plastic Cover)	1-25
Thus Spake Swaminarayan „	1-25
Bhagwan Swaminarayan „ (Pictorial)	5-00
Gems from Shikshapatri	1-50
Swaminarayan on Meditation	1-50
Swaminarayan on Jnan	1-50
Swaminarayan, A Social Reformer	1-50

भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दी प्रकाशन (हिन्दी)

वचनामृत–भगवान स्वामिनारायण	३५–००
भगवान स्वामिनारायण (सचित्र)	४–००
शिक्षापत्री (,,)	२–००
नित्यविधि	००–७५
वचनामृत बिन्दु	००–७५
भगवान स्वामिनारायण–ले : हरीन्द्र दवे	००-७५
भगवान स्वामिनारायण–संगित कलाके परिपोषक ले : निनु मझुमदार	००–७५
संप्रदाय का विकास एवं गुरुपरंपरा–ले : हर्षदराय दवे	००–७५
भगवान स्वामिनारायण–समाज सुधारक ले : गुणवंत दाणी	००–७५
अक्षरमूर्ति गुणातीतानंद स्वामी : शास्त्री ईश्वरचरणदास	००–७५
गोपालानंद स्वामी : शास्त्री स्वयंप्रकाशदास	००–७५
नित्यानंद स्वामी : शास्त्री नारायण भगत	००–७५
ब्रह्मानंद स्वामी : शास्त्री सिद्धेश्वरदास	००–७५
मुक्तानंद स्वामी : शास्त्री सत्यप्रियदास	००–७५
धर्म : शास्त्री भक्तिप्रियदास	००–७५
सहजानंद चरित्र : किशोर म. दवे	४–००

अन्य पुस्तक–पुस्तिकाएं मुद्रित हो रहे हैं।

प्राप्ति स्थान :

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था प्रकाशन
शाहीबाग, अहमदाबाद – ३८०००४

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था

भगवान स्वामिनारायण के द्वारा प्रबोधित 'अक्षर–पुरुषोत्तम की उपासना, अर्थात् स्वयं अक्षररूप होकर पुरुषोत्तम की भक्ति करना,' इस सनातन सिद्धान्त के प्रवर्तन के लिये ब्रह्मस्वरूप स्वामीश्री यज्ञपुरुषदासजी (शास्त्रीजी महाराज) ने सं. १९६२ में इस संस्था की स्थापना की।

उन्हों ने उपासना के प्रसार के लिये शिखरबद्ध मंदिरों का निर्माण कर के उन में भगवान स्वामिनारायण की उनके परम भक्त गुणातीतानंद स्वामी के साथ अर्थात् पुरुषोत्तम की अक्षरके साथ मूर्ति प्रतिष्ठित की।

उन के अनुगामी स्वामीश्री योगीजी महाराज ने, निर्दोष संतप्रतिभा एवं निःस्वार्थ प्रेमभाव के द्वारा असंख्य मनुष्यों को, विशेषतः युवावर्ग को धर्माभिमुख किया, समाज में विलुप्त होती सी धर्मश्रद्धा को पुनर्जीवन दिया, देश विदेशों में अनेक संस्कार केन्द्रों की स्थापना की।

वर्तमानकाल में उनके अनुगामी स्वामीश्री नारायणस्वरूपदासजी (प्रमुख स्वामीजी) उसी कार्यक्रम को विशेष विस्तृत कर रहे हैं। अकाल एवं संकटग्रस्त पीडितों को राहत, विद्यार्थीओं को शैक्षणिक सहाय, वैद्यकीय सहाय, आदिवासी एवं पिछडी जातियों में संस्कार सिंचन, दवाखाना, संस्कृत–संगीत पाठशाला, हाईस्कूल, गुरुकुल, साहित्य प्रकाशन, कला उत्तेजन, मंदिर–निर्माण, संस्कार–केन्द्रों का संस्थापन इत्यादि अनेकविध लोकोपकारक प्रवृत्तियों से प्रमुख स्वामीजी समाज को भक्तिरस से नवपल्लवित रख रहे हैं।

अक्षरपुरुषोत्तम विषयक तत्त्वज्ञान को वेदादि शास्त्रों का पूरा आधार है, इसलिये इसमें दिव्यता और आकर्षण है। यह प्रेम का, आध्यात्मिक जागृति का तथा साधना का राजमार्ग है।

निर्भय और निःशंक होकर आईये, भगवान स्वामिनारायण हम सब पर आशीर्वाद बरसा रहे हैं।

भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दी महोत्सव
विविध प्रकाशन

: प्रकाशक :

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था
शाहीबाग रोड, अहमदाबाद—३८०००४.

स्वामिनारायण मुद्रण मंदिर - अहमदाबाद ३८०००४